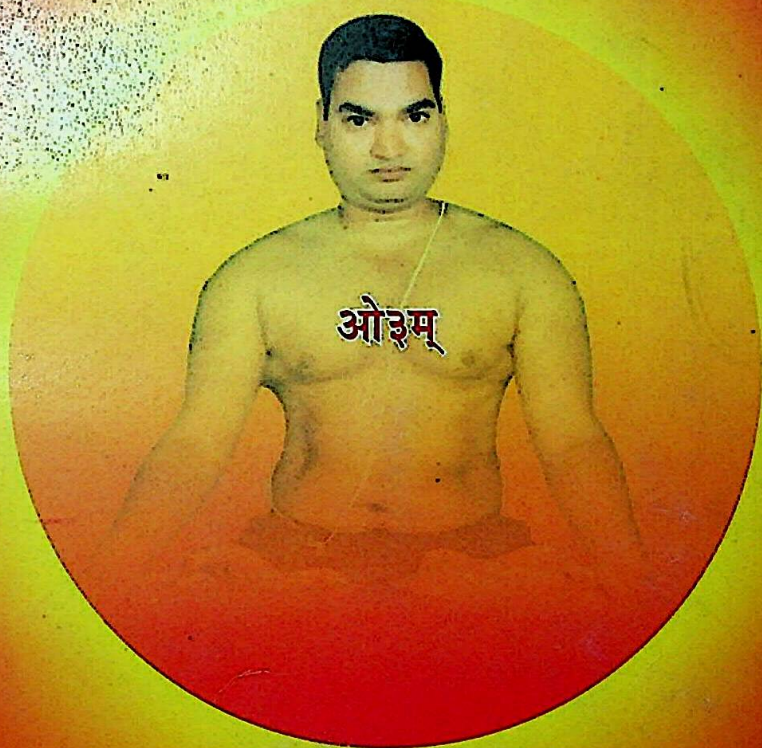
P 5.1

वैदिक ओङ्कार उपासना



वेदरत्न प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार

ओ३म् ओ३म् ओ३म्

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद

ओ३म् ओ३म् ओ३म्

ओ३म् ओ३म् ओ३म्



विश्वानि देव सवितर्-दुरितानि परासुव । यद्-भद्रं तन्न आसुव

ब्रह्म-यज्ञ

पितृयज्ञ

अतिथि-यज्ञ

बलिवैश्वदेव यज्ञ

देव-यज्ञ

ओ३म्

ओ३म् ओ३म् ओ३म्





॥ ओ३म् ॥

वैदिक ओङ्कार-उपासना

लेखक :

वेदरत्न प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार

पूर्व आचार्य एवम् उपकुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

प्रकाशक : श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०९८८७४-५२९५९

संस्करण : सन् २००८, (ऋषि दयानन्द के बलिदान का १२५वाँ वर्ष)

मूल्य : ३५.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. हरिकिशन ओम्प्रकाश, ३९९ गली मन्दिर वाली
नया बाँस, दिल्ली-६ चलभाष : ०९३५०९९३४५५
२. सुबोध पॉकेट बुक्स, २/४२४०-ए, अन्सारी रोड,
नई दिल्ली-२, चलभाष : ०९८१००-०५९६३
३. श्री राजेन्द्रकुमार, १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कालोनी,
बरेली (उ०प्र०) चल० : ०९८९७८८०९३०
४. श्री वैदिकानन्द, श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान आश्रम न्यास,
वैदिक सदन, भँवर कुँआ, इन्दौर-४५२ ००१
चलभाष : ०९३०२३-६७२००
५. श्री गणेशदास-गरिमा गोयल, २७०४, प्रेममणिनिवास,
गली पत्तेवाली, नया बाजार, दिल्ली-११० ००६
चलभाष : ०९८९९७-५९००२

शब्द-संयोजक : वैदिक प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-110032



दो शब्द

आचार्य जी ने अपने जीवनरूपी कार्यक्षेत्र में वेदज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया है। उन का समय वेदमन्त्रों के चिन्तन, मनन एवं लेखन कार्य में व्यतीत हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप सैकड़ों डायरियों में अनेकों विषयों पर आज भी नई-नई सामग्रियां प्राप्त हो रही हैं जो प्रकाशित साहित्यों से अलग हैं। अतः जन-मानस तक उनके द्वारा लिखित सामग्रियों को पहुंचाने के लिए उनकी पुण्यस्मृति में इस वर्ष डायरियों से संकलन का कार्य प्रारम्भ किया गया है।

एक बार की बात है। आचार्य जी दिल्ली से ज्वालापुर आये और बहुत प्रसन्न थे कि आज मैंने ओ३म् के ऊपर एक किताब लिखनी प्रारम्भ की और ज्वालापुर आते-आते पूरी कर दी। उसके बाद प्रचार में जहाँ कहीं भी गये वहां इसी विषय पर प्रवचन दिये, जिसे श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया और कइयों ने कहा कि जितना भी पैसा लगे इसे शीघ्र छपवा दो, परन्तु अकस्मात् संसार से चल बसे। वे कहा करते थे कि मेरे दिमाग में दो सौ किताबें हैं । उनके जाने के बाद प्रिय भक्तों ने ओ३म् की किताब मांगी किन्तु प्रकाशन न होने से देने में असमर्थ थी, साथ ही बहुत ढूंढने पर भी वह डायरी नहीं मिली। वर्तमान प्रिय डॉ० प्रद्युम्न के प्रयास से वह डायरी मिल गई और मेरी प्रसन्नता की सीमा न रही, जिसे मैं शीघ्र ही छपवाकर आपके हाथों में प्रदान कर रही हूँ। परमपिता परमात्मा और प्रिय बेटा प्रद्युम्न का जितना धन्यवाद करूं, उतना कम है।

इस प्रकार उन्हीं के द्वारा किये गये ओ३म् की व्याख्या को अध्यात्म मार्ग के साथ जोड़ते हुए "वैदिक ओङ्कार-उपासना" नामक ग्रन्थ का संकलन किया गया है, जिस में दुर्गुण त्यागें सद्गुण धारें, जहाँ चाह वहाँ राह, ओङ्कारमय जगत्, अनादि ओं का स्वरूप, ओं की भावना और साधना इन पांच विषयों को प्रिय प्रद्युम्नकुमार ने डायरियों से संकलन का कार्य करते हुए सुन्दर ढंग से सजाकर प्रस्तुत किया है। इसलिए इसका नाम "वैदिक ओङ्कार-उपासना" रखा गया है। आशा है जिज्ञासु साधकगण इस पुस्तक से लाभ उठाकर मोक्ष-मार्ग के पथिक बनने में सफल होंगे ।

इसी आशा एवं विश्वास के साथ जिस परमपिता परमात्मा की असीम अनुकम्पा एवम् अपने पूजनीय गुरुजनों के उदार हृदय से प्रदान किये हुए ज्ञान व आशीर्वाद के आधार पर स्वाध्याय-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत श्रद्धा साहित्य-प्रकाशन द्वारा प्रकाशित "वैदिक ओङ्कार-उपासना" नामक यह ग्रन्थ मैं आपके कर-कमलों तक पहुंचा सकी । अतः उन्हीं की पावन पुण्यस्मृति में मेरा यह अल्प प्रयास समर्पित है ।

विनीत :
सरोज आर्या
धर्मपत्नी-स्व० रामप्रसाद वेदालंकार

विषय-सूची

॥ ओ३म् ॥

प्राक्कथन

साधना-मार्ग के पथिक एवं योगविद्या के पिपासुजन अपने व्यावहारिक जीवन को किस प्रकार योगमय बनायें ? इस का समाधान **"वैदिक ओङ्कार-उपासना"** नामक इस नवीन पुस्तक में किया गया है । इस में साधना के प्रत्येक अमृतमय विन्दुओं पर गहराई से चिन्तन किया गया है, जो आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार के जीवन की तपस्या का फल है । उन का सम्पूर्ण जीवन एक महात्मा की तरह व्यतीत हुआ । यह अनुपम कृति भी उन्हीं की है, जिन का डायरियों से संकलन कर प्रकाशित किया जा रहा है । इस पुस्तक में विषयों का वर्गीकरण नहीं किया गया है ।

यथा नाम तथा गुण को चरितार्थ करते हुए यह पुस्तक बुराइयों को त्यागने और अच्छाइयों को ग्रहण करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी और आप साधना-मार्ग के पथिक बनने में सफल हो जायेंगे । इसलिए इस पुस्तक का शुभारम्भ **"दुर्गुण त्यागें, सद्गुण धारें"** नामक शीर्षक से किया गया है और समापन में परमात्मा के मुख्य नाम ओ३म् की साधना का प्रकृति के साथ सामञ्जस्य दर्शाते हुए हृदयग्राही व्याख्या की गई है।

स्योनामयी पूज्या माता **श्रीमती सरोज आर्या** (धर्मपत्नी स्व० आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार) के आशीर्वाद एवम् उन के सुपुत्र वैदिक **ऋचा** के अनुगामी **अनुव्रत** की **श्रद्धा** का परिणाम है। जो आचार्य श्री ब्र० नन्दकिशोर जी की प्रेरणा से यह नवीन कृति आप के हाथों में पहुंचा सका । इस की जितनी प्रशंसा की जाय, उतना ही कम महसूस होगा । पाठक इस को स्वयम् अध्ययन कर अनुभव कर सकेंगे । इसी आशा एवं विश्वास के साथ आचार्य रामप्रसाद जी की पावन स्मृति में **"वैदिक ओङ्कार-उपासना"** नामक पुस्तक श्रद्धा सहित समर्पित है ।

डॉ० प्रद्युम्नकुमार शास्त्री
(यज्ञीय चिकित्सक)
9/234, माता यशोदा भवन,
किसुनपुर, चतरा-825401 (झारखण्ड)
दूरभाष : 06541-222869



॥ ओ३म् ॥

दुर्गुण त्यागें, सद्गुण धारें

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

अन्वय–(सवित: देव) हे सविता देव ! विश्वानि दुरितानि परासुव। यत् भद्रं तत् नः आसुव ॥

भावार्थ–तू हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर और जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं वह हमें चहुँ ओर से प्राप्त करा।

इस मन्त्र में उपासक प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे सविता देव ! तू हमारे सभी दुरितों को दूर कर और जो भद्र है वह हमें प्राप्त करा।

संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक वे जो संसार की इन बुराइयों को बुराई, दुर्गुण को दुर्गुण नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि यह सब तो स्वाभाविक है और इन के करने में कोई बुराई नहीं व पाप नहीं होता। दूसरे वे हैं जो इन दुर्गुणों को दुर्गुण मानते हैं और यह भी अनुभव करते हैं कि इन दुर्गुण दुर्व्यसनों के कारण हमारा निरन्तर पतन हो रहा है, परन्तु वे चाहते हुए भी इन दुर्गुणों से अपने को पृथक् नहीं कर पाते। वे यह भी जानते हैं कि ये दुर्गुण दुर्व्यसन ऐसे नहीं हैं कि जिन से पृथक् नहीं हुआ जा सके। क्योंकि उन्होंने संसार में ऐसे व्यक्ति देखे हैं जो इन दुरितों से ऊपर उठे हुए हैं और इस से वे हम से अधिक सुखमय, शान्तिमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। देवजन, उत्तमजन जिन्होंने अपने को इन दुर्गुणों से पृथक् करके अपने को सुखी व शान्त बनाया है।

इस प्रकार ये मध्यम कोटि के मनुष्य जो इन दुर्गुणों के कारण अपने को हीन अनुभव करते हैं और वे इस अवस्था से ऊपर उठने के लिए देवों का आश्रय लेते हैं उन से उन को निरन्तर उत्साह मिलता रहता है। इस प्रकार वे निरन्तर ऊपर उठते रहते हैं, परन्तु एक दिन ऐसा भी आ जाता है कि जिन को वे देखकर समझते थे कि वे दूध के धुले हुए समझदार या गुणों के भण्डार हैं उन में भी उन को दुर्गुण भाने लगते हैं। तब उन को उन से घृणा होती है और वे उन से बढ़कर देवाधिदेव परमेश्वर का

आश्रय लेते हैं जिस की कृपा से वे देव पवित्र हुए थे या महान् बने थे। ये वे देव हैं जहां अपवित्रता का स्थान भी नहीं है, सब प्रकार से ये देव हैं, दिव्य हैं द्युतिमान् हैं, ज्योतिर्मय हैं। इस देवाधिदेव की कृपा से सब देव ज्योतिर्मय हैं द्युतिमय हैं। ये पवित्रतम हैं इन का सम्पर्क पाकर सब पवित्र बने हैं। अतः मुझे भी इसी की शरण में जाना चाहिए।

इस प्रकार वह उस परमदेव परम प्रकाशमय प्रभु देव का उपासक बन जाता है। उसे उस की शरण में जाकर पूर्ण विश्वास हो जाता है कि अब मेरे सब दुरित दूर हो जायेंगे, हृदय की सब कालिमा धुल जायेगी। इस देवाधिदेव प्रभु देव के सम्पर्क से मैं भी देव बन जाऊंगा।

उस देव से वह प्रार्थना करता है। हे देव ! तू हमारे सब दुरितों को दूर कर और जो भद्र है वह हमें प्राप्त करा। उपासक को पता है कि ये दुरित ही हैं जो मुझे जगत् में दुर्गति-दुःखावस्था को प्राप्त कराते रहते हैं। अतः वह दुर्गुणों से बचने के लिए पूर्ण प्रयत्न करता है और फिर उस प्रभु देव से प्रार्थना भी करता है तभी उस के दुर्गुण दूर होते जाते हैं और उस का हृदय निर्मल होता जाता है।

दुरित क्या है यह हम कैसे पहिचानें ? तो इसी शब्द में इस की व्याख्या की गई है—दुःइत अर्थात् जिस के करने के पश्चात् परिणाम में हमें दुःख प्राप्त हो वह दुरित है। इस प्रकार जिस भी कार्य के करने से हमें परिणाम में दुःख मिले हमारी दुर्गति हो वह दुरित है। अब वह चाहे अध्ययन हो अध्यापन हो, खाना हो, पीना हो, सोना हो, जागना हो, चलना हो, फिरना हो, बात करना हो, चोरी हो, सीना जोरी हो, लेना हो, देना हो, आदि-आदि।

इस प्रकार अत्यधिक स्वाध्याय भी यदि परिणाम में हमें आँखों की ज्योति के शारीरिक स्वास्थ्य आदि से वञ्चित करे तो वह भी दुरित है और यदि स्वल्प स्वाध्याय भी हमारे जीवन को आगे बढ़ाकर हमें शरीर से स्वस्थ, मन से शान्त तथा आत्मा से तृप्त करने वाला हो तो वह सुपरिणामी है।

वह दुरित है यदि अत्यधिक सेवन करने पर हमें परिणाम में कष्ट दे और वही हित, मित, ऋत रूप में सेवन करने पर यह सुपरिणामी होकर भद्र भी हो सकता है।

उपासक यहां उन सभी प्रकार के दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुष्टाचारों से बचना चाहता है जिन के परिणाम में उसे दुःख, कष्ट, क्लेश मिलता है।

इस विषय में वह देवाधिदेव की साक्षी में चलता है, प्रयत्न करता है और साथ में प्रार्थना भी करता रहता है। उस पवित्रतम प्रभु से उसे निरन्तर उत्साह मिलता है । उस के नेतृत्व में उसे बारीक (सूक्ष्म) से बारीक दुर्गुण भी ऐसा स्पष्ट भासने लगता है कि वह दंग रह जाता है। हम अपने प्रकोष्ठ में विद्युत्-बल्व को प्रज्वलित करते हैं और उस में जैसे हर वस्तु हमें स्पष्ट दिखाई देने लगती है वैसे ही उसे अपने अन्दर की प्रत्येक बुराई भासने लगती है। ज्यों-ज्यों वह उन्हें दूर करता रहता है त्यों-त्यों वह निर्मल होता है । प्रभु देव की कृपा का पात्र बनता चला जाता है ।

यह उपासक यह प्रभु देव से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु देव ! मेरे सब दुर्गुण दूर करो ! क्योंकि उपासक जानता है कि दुर्गुण, बुराई, छिद्र एक भी रह गया भले ही वह कितना छोटा ही क्यों न हो, पर वह छोटा सा छिद्र भी जैसे शनैः-शनैः घड़े को रिक्त कर देता है वैसे मेरा वह एक छोटा सा दुर्गुण भी मुझे शनैः शनैः अमृत रस से सद्गुणों से रिक्त कर सकता है अर्थात् मुझे मिट्टी में मिला सकता है। अतः वह सब दुर्गुणों की निवृत्ति चाहता है तभी तो वह उस परमदेव की शरण में जा बैठा है जो स्वयं सब प्रकार के दुर्गुणों से दूर है और दुर्गुणों से दूर ही नहीं बल्कि सद्गुणों का भण्डार है ।

इसलिए बहुत से दुरित ऐसे होंगे जो मुझे तो दुरित नहीं दीखते पर होते वास्तव में वे भी दुरित ही हैं, उन्हें जानने का प्रयत्न भी करना है। अतः हे प्रभो ऐसे सब दुरितों को दूर करो जो मेरी दृष्टि से दुरित नहीं हैं पर तेरी दृष्टि में दुरित हैं तभी तो देव! मैं तेरी शरण में आया हूँ, क्योंकि तेरी शरण में रहकर ही मैं सर्वविध दुर्गुण से मुक्त हो सकूंगा ।

प्रभु देव ! (यत् भद्रं तत् नः आसुव) जो भद्र है वह हमें प्राप्त करा।

उपासक ने 'भद्र' एक वचन में एक चीज मांगी परन्तु इस एक भद्र में भक्त ने कुछ छोड़ा नहीं है भद्रता भलाई एक भी जीवन में आ जाए तो वह हमें भद्रों की श्रेणी में ला खड़ा कर देती है और बुराई एक भी यदि आ जाए तो वह हमें बुरों की श्रेणी में खड़ा कर देती है। अतः जैसे एक बुराई अन्य बुराइयों के लिए द्वार बना देती है वैसे एक भलाई भी अन्य भलाइयों के लिए रास्ता बना देती है। अन्य भलाइयां स्वयमेव आना आरम्भ हो जाती हैं। जैसे जो चोरी करता है, चोरी अपनाता है उस के साथ स्वयमेव अन्य बुराई भी आना आरम्भ हो जायेगी । चोरी करने वाला स्वभावतः अन्धकार प्रिय हो जाएगा, वह न्याय की बात करने

वालों का शत्रु और रिश्वत लेकर अन्याय पूर्वक अपने को बचाने वाले का मित्र होता जायेगा इत्यादि ।

इसी प्रकार यदि कोई भद्रता अपने में ले आए कि मैंने किसी को अन्तःकरण से दुःख नहीं देना तो वह किसी से असत्य नहीं बोलेगा, धोखा नहीं देगा, प्यार से बोलेगा, मधुर बोलेगा, सेवा करेगा, सहायता करेगा आदि-आदि ।

इस के अतिरिक्त 'भद्रम्' शब्द यद्यपि है तो एकवचन में पर इस एक शब्द में भक्त ने सब कुछ मांग लिया । 'भद्र' शब्द **'भदि कल्याणे सुखे च'** धातु से बना है । जिस के परिणाम स्वरूप संसार में सुख मिले और परलोक में कल्याण हो वह भद्र हमें प्राप्त करा ।

भक्त प्रभु से कहता है ! प्रभु देव ! मुझे भद्र की प्राप्ति करा अर्थात् हमें वे गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ प्रदान करा जिस के परिणाम स्वरूप हमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति हो ।

उपासक इस मन्त्र में इस प्रभु देव से सदा निकटता अनुभव करता है कि वह शिष्टाचार की मर्यादा को तोड़कर प्यार में विभोर होकर कह रहा है कि प्रभु देव ! तू सब दुरितों को दूर कर और भद्र को प्राप्त करा। उपासक यहां कितना विशाल हृदय वाला बन गया है कि प्रभु के प्यार में विभोर होकर भी वह स्वार्थी नहीं बना इसीलिएं तो उस ने कहा कि प्रभु देव ! तू हम सब के सब दुरितों को दूर करके हम सब को भद्रता की प्राप्ति करा । इस मन्त्र में देव शब्द के साथ एक दूसरा बड़ा सुन्दर सम्बोधन दिया हुआ है। जहां प्रभु देव उपासक की दृष्टि में पवित्रतम है, दिव्यतम है, वहां वह सविता भी है। सविता शब्द 'सू प्रेरणे' धातु से बना है वह प्रभु देव उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों की सब को प्रेरणा देता है। उसी की प्रेरणा से प्रेरित हुए मनुष्य धीरे-धीरे देव बन जाते हैं, दिव्य बन जाते हैं । तब वे देव प्रभु के प्यारे बनकर उस के पास प्यार मोक्षानन्द के पात्र बन जाते हैं। तभीं तो शतपथ ब्राह्मणकार (१।१।२।१७) ने कहा कि **'सविता वै देवानां प्रसविता'** सविता वह है जो देवों का भी प्रेरक है।

उस सविता देव की प्रेरणाओं को जिन्होंने हृदय से, श्रद्धा से सुनना आरम्भ कर दिया तो समझो वे तर गए । उन का लोक भी बन गया परलोक भी बन गया ।

वह हमें प्रेरणा क्यों नहीं देता है? क्योंकि वह हमारा जनक है, उत्पन्न करने वाला पिता है या उत्पन्न करने वाली माँ है। सविता शब्द **"षूञ्**

अभिषवे। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने" इन धातुओं से बनता है। वह सब जगत् को उत्पन्न करता है। अतः—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।। (ऋ० ८।९८।११)

वह सब की माता है पिता है। यदि कोई कहे कि हमें उत्पन्न करने वाले तो हमारे माता-पिता हैं तो जो जिस चीज के उत्पन्न करने वाले होते हैं वे उसके बारे में जानते होते हैं कि वे कैसे बने हैं। यदि हम इन अपने माता-पिताओं से पूछें कि जब आप ने हमें पैदा किया है तो बताओ हमारी आंख की पुतली का निर्माण तुम ने कैसे किया? तो यह सुनकर वे मौन हो जाते हैं अथवा बड़े धैर्य से उत्तर देते हैं कि वत्स ! वास्तव में हम तुम्हारे जनक नहीं, तुम्हारा वास्तव में सच्चा जनक और जननी तो वह सविता देव ही है उसी ने तुम को उत्पन्न किया है वही जान सकता है कि यह आँख की पुतली कैसे बनी।

वास्तव में जो जिस वस्तु का जनक होता है उस की रुचि Interest उस के साथ बनी रहती है। इस संसार में एक बालक गन्दा होता है तो सभी यह कहते हुए निकल जाते हैं कि यह बालक बहुत गन्दा है पर यदि उस की माँ को और जनक को यह भान हो जाय तो वे वहां से टल नहीं सकते। वे झट उस को साफ कर देंगे। उस को नहला धुला देंगे या उसको प्रेरणा देंगे समझायेंगे तो इसी प्रकार वह प्रभु देव सविता भी हमें उत्पन्न करने वाली माता है पिता है। अतः वह हमें प्रेरणा देता रहता है ताकि हम अच्छे साफ़ सुथरे बनें और जग में अच्छे लगें परन्तु एक दिन ऐसा भी आ जाता है कि ये माता-पिता भी समझाते-समझाते हार जाते हैं और कहने लगते हैं कि जाने दो कम्बख्त नहीं मानता तो हम यों अपना मस्तिष्क क्यों खपाएं परन्तु जो इन से भी महान् है वास्तव में सच्चा जनक और जननी है वह नहीं हारता। जब ये माता-पिता हारकर वानप्रस्थ आदि में चले जाते हैं तब भी वह हर बुरे कार्य के करने पर अन्दर से भय, शङ्का लज्जा देकर सावधान करता रहता है और हर अच्छे कार्य पर आनन्द उत्साह और निर्भयता प्रदान करके आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहता है। उस परम माँ, परम पिता रूप सविता देव का इतना प्यार है हमारे साथ कि जब तक पूर्ण पवित्र बनाकर मोक्ष तक न पहुंचा जाय तब तक हमें धोने में लगा रहता है। इस माँ का, इस पिता का धैर्य टूट जाता है पर उस का धैर्य नहीं टूटता। अतः उस (सविता वै देवानाम्) सविता देवों

के भी जनक और प्रेरक सविता का जितना भी धन्यवाद किया जाए उतना कम है। इस संसार में भी जो हमें कष्ट और आपत्तियां सहनी पड़ती हैं ये भी वास्तव में हमारे कल्याण के लिए होती हैं पर हम इन्हें समझ नहीं पा रहे होते। एक बच्चा जब गन्दा होता है, नहाता नहीं, कपड़े नहीं बदलता आदि-आदि। तब माँ जबरदस्ती उस को पकड़कर उस के कपड़े उतारती है, उस के सिर हाथ और मुख आदि पर साबुन लगाती है और उस को जब रगड़-रगड़ कर धोती है तो वह रोता है चिल्लाता है, भागता है पर जब नहा धो लेने पर माँ कपड़े पहनाती है, सुरमा डालती है, तेल लगाती है और गोदी में लिटा कर दूध पिलाती है तब उस बच्चे को उस निवृत्ति के उपरान्त जब अमृत रस का पान मिलता है तब चैन की नींद सो जाता है और उस में उसको जो विश्राम मिलता है उसे वह ही जानता है। इसी प्रकार ये संसार की आपत्तियां उस परम माँ की रगड़ाई हैं। इस रगड़ाई में हमारी मैल धुल जाएगी तो साफ सुथरे अर्थात् निर्मल होकर संसार में भी सुशोभित होंगे और भजन में बैठकर उस परम माँ के अमृत रस का पान कर मोक्षानन्द के पात्र बनकर परम चैन के भी भागी बन सकेंगे।

स्वाध्याय—ओ३म् जप, गायत्री का तीन व्याहृतियों सहित जप, वेद उपनिषदादि स्वरूप का अध्ययन पवित्र मोक्ष प्रापक ग्रन्थों को पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है। इस के साथ ही अपने जीवन पर सदा दृष्टि रखना कि यह किधर जा रहा है, नित्य अपना अध्ययन करना, (आत्म-विश्लेषण) करना भी स्वाध्याय है। तैत्तिरीय आरण्यक में "स्वाध्याय को पाप से बचाने वाला कहा है।" शतपथ में स्वाध्याय को सारे पुण्यकर्मों से, दान से और यज्ञ से भी बढ़कर बताया है। स्वाध्याय से नित्य दया, ज्ञान, नया आन्तरिक विश्लेषण होता है। शतपथ ११।५।७।२ प्रभुदर्शन पृ० १२ पर—**ये के च श्रमा इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमा काष्ठा, य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः। (श० ब्रा० ११।५।७।५)।**

शतपथ में कहा है—वह नख के अग्रभाग तक तप कर रहा है जो ठीक जागता हुआ स्वाध्याय करता है।

शतपथ में यहां तक कहा है कि "स्वाध्यायशील पुरुष एकाग्रमन हो जाता है पराधीन नहीं होता। दिन-प्रतिदिन अपने प्रयोजनों को साधता है। अपने आप का परमचिकित्सक हो जाता है। इन्द्रियों का संयम सदा एक

रस रहना, ज्ञान वृद्धि, यश, लोगों को सुधारने तथा निपुण करने का कार्य ये सब फल स्वाध्याय के हैं।" शतपथ में कौन सी वस्तु रह गई जो स्वाध्याय से नहीं मिलती। योगदर्शन के साधनपाद सूत्र ४४ में लिखा है कि–स्वाध्याय से इष्ट देवता का सम्बन्ध, मेल साक्षात् हो जाता है। व्यास इस के भाष्य में लिखते हैं देवता ऋषि और सिद्ध लोग स्वर सूर्य के दर्शन को जाते हैं और इस के कार्य में साक्षात् होते हैं।

सुदिशः–ध्यान करने वाले सुदिनों वाले होते हैं, वे सुहावने दिनों वाले होते हैं। वे दिन काटते नहीं या पूछने पर यह नहीं कहते हैं कि जैसे–तैसे दिन बीत रहे हैं, कट रहे हैं। हर दिवस उन के लिए सुन्दर प्रभात को लाने वाले होते हैं, उन का प्रत्येक दिन उन को बीते दिन की अपेक्षा सु–सुन्दर बनाने आता है–अच्छा बनाने आता है। उन का प्रत्येक आने वाला दिवस उन्हें पूर्वापेक्षा महान्, पवित्र, सौम्य, सरल, दिव्य, तेजस्वी, ज्ञानी, निष्कपट बनाने आता है। उन का हर आने वाला दिन उन में सुन्दर भावनाओं, सुन्दर कर्मों, सुन्दर स्वभावों के बीज बोने वाला होता है। **"सुष्ठुषु रमन्ते इति सुराः देवाः"** जो सु–सु में रमण करते हैं, श्रेष्ठ गुण कर्म स्वभावों में रमण करते रहते हैं वे सुर–देव बन जाते हैं। फिर भला हो, सुदिन हो, जिन का हर दिन तुम्हें असुरत्व दोष से ऊपर उठा कर उन्हें मनुष्यत्व की कोटि में ला खड़ा कर देता हो और मनुष्यत्व पर भी उन्हें टिकने न देकर देवत्व की कोटि में सुरत्व की कोटि में ला खड़ा करता हो तो भला वे कैसे "सुदिनाः" न कहाएँ।

"ध्यानियों के दिन सुनियमित सुदिनाः" सुन्दर यम-नियमों की मर्यादाओं में व्यतीत होते हैं। वे सुगमों में सुन्दर सुन्दर धर्मों, महाव्रतों, अहिंसा, सत्य–अस्तेय आदि में अपने दिनों को गुजारते हैं। वे केवल सुयमों में ही अपने दिन नहीं गुजारते बल्कि सुनियम में ही उनके दिन गुजरते हैं। ध्यानियों को यम–नियम बहुत प्यारे लगते हैं क्योंकि उन्हें मालूम है कि ये यम–नियम ही उन्हें असुर से सुर में बदल सकते हैं। उन्हें असुरत्व से सुरत्व में ला सकते हैं राक्षसत्व से देवत्व में ला सकते हैं।

ध्यानी क्यों अपने आप को सुदिनाः बनाते हैं। इसलिए कि अगर उन के दुर्दिन सुदिन बन जायेंगे तो सुन्दर गुण, कर्म, स्वभावों से रंग जायेंगे तो फिर उन की रातें और प्रभातें तथा सायं सभी सुहावने बन जायेंगे– दिन के व्यवहार खान–पान, रहन–सहन, लेन–देन, बोल–चाल, उठना–बैठना आदि सब सु बन जायेंगे तो सायं भी सु बन जायेंगे, प्रभात और रातें भी

सु बन जायेंगे। स्वप्न भी यदि आयेंगे तो वे भी सु ही=सुन्दर ही आयेंगे।

दिन तो भगवान् ने प्रकाश वाले बनाए हैं पर यदि वह दुः से जुड़ जायें तो वे दुर्दिन बन जाते हैं और सु से मिल जायेंगे तो सुदिन बन जाते हैं।

ध्यानियों के दिन सुदिन होते हैं सु नियमित–सुनियोजित होते हैं उन का उठना–बैठना, खाना–पीना, सोना–जागना, चलना–फिरना सुनियमित होता है।

वह सुनियोजित होकर अपने नियम बनाकर समय पर उठता, समय पर साधना, भजन, पूजन, स्नान, व्यायाम, घूमना, पठन–पाठन आदि करता है। वे ऐसे सु–सुन्दर नियमों में व्यवस्थाओं में बन्ध कर रहते हैं कि वेद में उन का नाम "सुदिना" पड़ जाता है। वे उषाओं के समान स्वाध्याय, सत्संग **"देव ब्रह्मणस्पति"** से अपनी अविद्या, अन्धकार अज्ञान तम को उषाओं के समान दूर करते रहते हैं तभी उन का नाम "उषसः" पड़ जाता है।

अग्ने अनागः अरिप्राः—ध्यानियों का तीसरा गुण यह है कि अपने को अरिप्रा=निष्पाप बना लेते-अरिप्रा बनाना ध्यानियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है—"ज्यों–ज्यों मैं निर्मल हो जाऊँ दूरी त्यों–त्यों घटती जाय और श्रद्धा त्यों–त्यों बढ़ती जाय।"

पापों से उन्हें बहुत नफरत होती है पाप उन्हें छूता है तो ऐसे लगता है जैसे आग का अंगारा बदन पर आ पड़ा हो उन्हें हिंसा करना तो दूर रही हिंसा कोई कर रहा हो तो भी देखी नहीं जाती। शक्ति होने पर उस का विरोध करता है या फिर हटता रहता है। असत्य उन्हें नहीं भाता, स्तम्भ भी अच्छा नहीं लगता परिग्रह उसे कूड़ा लगता है।

उसे और पाप भाता नहीं—**पतति अनेनेति पापम्**। उसे हर वह कर्म भाता नहीं जिस से मनुष्य निरन्तर नीचे ही नीचे गिरता रहता हो। **"पाताऽपेयानाम्"** उसे हर वह कर्म बुरा लगता है जिस में मनुष्य अपेयों का पान करें, उपलक्षण के अरमानों को साथ, अस्पृश्यों को स्पर्श करें, अग्राह्यों को ग्रहण करें, अश्रव्यों का श्रवण करें, अद्रष्टव्यों का दर्शन करें, अघ्रातव्यों का जिघ्रण करें।

पाप वह चीज है जो मनुष्य को उभरने नहीं देता, उठने नहीं देता, आगे बढ़ने नहीं देता।

पापी व्यक्ति यदि ध्यान करता है तो उस का पाप उस को आगे बढ़ना तो दूर और उस को पीछे धक्का देता है, वह ऊपर चढ़ना चाहता

है तो उसका पाप उस को पीछे खींचता है। जब हम अरिप्र बनते हैं और तब हम ध्यान करते हैं तो हम महान् ज्योतियों को पाते हैं।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥

अपनी साधना से दृढ़पन को सुमन भूमि वाला करने को साधना में जल्दबाजी हमें नहीं करनी चाहिए। बड़े धैर्य से काम लेना चाहिए तभी वह साधना दृढ़भूमि वाली बनती है। **"स तु दीर्घ"** एक व्यक्ति कहता है १२ वर्ष हो गए मुझे साधना करते-करते फूँ-फाँ (प्राणायाम) करते करते, आँखें मींचते-मींचते, पत्थर की तरह बैठते-बैठते पर कुछ भी न बना। इस पर निर्देशक ने पूछा—यह मैंने माना कि आप ने १२ वर्ष तक साधना की, पर यह बताओ कि वह निरन्तर प्रतिदिन बिना नागा किये हुए की? तो वह बोला कि निरन्तर तो नहीं की, बेटी की बीच में शादी के दिनों में तो नहीं कर सका, फिर इलेक्शन के दिनों में तो यह सब छूट ही गया। इस प्रकार निरन्तर तो नहीं चली साधना, पर वैसे चलती रही। तो सुनो-साधना दृढभूमि वाली तभी बनती है जब १२ के स्थान पर १० वर्ष चले किन्तु निरन्तर चले तभी इस की जड़ें जमती हैं। एक व्यक्ति आकर बोला—महाराज मुझे जप करते हुए, तप करते हुए, ध्यान करते हुए सात्त्विक खाना खाते हुए, सिर नीचे और पैर ऊपर को करते हुए, जंड़वत् बैठते हुए, मोटी खद्दर पहनते हुए, सिर मुंड़ाते हुए, अपनी प्रभात की मीठी मीठी प्यारी-प्यारी नींद गंवाते हुए, स्वादिष्ठ-स्वादिष्ठ और मधुर-मधुर प्यारे भोजनों से जबरदस्ती मुख मोड़ते हुए और उबले बेस्वाद कर्मों के मारों का भोजन करते हुए, निरन्तर अनवरत लगातार १२ वर्ष हो गए परन्तु तब भी महाराज मेरा कुछ नहीं बना।

मेरे प्यारे बन्धु! क्या यह सब तूने **"सत्कारासेवितः"** श्रद्धा पूर्वक किया? साधक मौन हो गया। फिर पूछा—हे प्यारे! तूने यह सब श्रद्धा से किया, न महाराज श्रद्धा कहां मैं तो जैसे तैसे घण्टा व्यतीत करता था। जैसे-तैसे मालाएं फेर कर पूरी करता था, जैसे-तैसे उबली दालों और सब्जियों को गले के नीचे उतारता रहता था और कभी-कभी यह भी सोचता था कि मैं भी क्या आदमी हूँ कि भगवान् ने इतना बढ़िया-बढ़िया खाने को, पीने को, पहनने को दिया और खुद अपनी हिम्मत को ठोकर मार कर यह भाग्यहीनों का सा भोजन करता हूँ, भाग्यहीनों के से वस्त्र

पहनता हूँ–तो बोले ! तभी तो तेरी साधना की जड़ें गहरी नहीं जातीं । अतः तू दीर्घ काल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक यह सब कर, फिर देख साधना क्या रंग लाती है। नहीं तो भर्तृहरि के शब्दों में सिर तो हम ने भी मुंडाया पर हमने श्रद्धा से नहीं मुंडाया तो सिर मुंडाने का इस को क्या लाभ होगा ? जिस सिर की खाज मिटाने को मुंडाया तो बस इतना ही तो लाभ होगा कि खाज मिट जायेगी या दवा अच्छी प्रकार लग सकेगी वैसे तो वह अपने को हीन समझता रहेगा या सिर मुंडाने का उस को क्या लाभ होगा? जिस माँ–बाप के मरने पर मजबूरन सिर मुंडाया सादा आदि रहा ।

अतः साधना में जहां सुदीर्घ काल का महत्त्व है वहां नैरन्तर्य का उस से भी अधिक महत्त्व है और फिर श्रद्धा का (सत्कार पूर्वक सब करने का) तो कोई ठिकाना नहीं । योग में तो यहां तक कहा है कि– "**श्रद्धा योगिनं मातेव पाति ।**" श्रद्धा योगी की माँ के समान रक्षा करती है। जैसे माँ बच्चे के लिए दत्तावधाना होती है वैसे श्रद्धा योगी की मातृतुल्य सहायता करती है ।

वेद के मन्त्र में साधना की जड़ों को गहरा करने के लिए, दृढ़ करने के लिए और भी कमाल किया गया है । तभी तो योगदर्शनकार के ग्रन्थ की यदि कोई प्रशंसा करता है तो वह कहता है अरे भोले ! मेरे ग्रन्थ की प्रशंसा मत करो ! जिस वेद रूपी समुद्र के तट पर बैठकर हम ने ठीकरे इकट्ठे किये हैं उस वेदोदधि में गोता मारकर एक भी शब्द यदि अच्छा पा लिया और उस पर विचार कर लिया और फिर हृदय से उस पर आचरण कर लिया तो स्वर्ग के लिए कहीं और नहीं जाना पड़ेगा तुम्हें अपने सामने ही स्वर्ग उपस्थित मिलेगा। तुम्हारी सभी कामनाओं को दोहने वाला हो जायेगा। उसी के शब्दों में "**एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति ।**" वेद का वह मन्त्र इस प्रकार है–

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ।।

अन्वय–अग्ने ! दिवे दिवे "दोषावस्तः, धिया नमो भरन्त वयं त्वा उप एमसि ।"

हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! प्रतिदिन रातदिन–प्रातः सायं दीर्घ काल तक, नैरन्तर्य दीर्घ काल तक निरन्तर (प्रतिदिन) वह भी प्रातः सायं (अहर्निशं) "धिया" वह भी धी "कर्म च प्रज्ञा च" ज्ञान और कर्मपूर्वक–नमो भरन्त

आचरण करते हुए, निरभिमान होकर अर्थात् नमन को धारण करते कृतज्ञता को धारण करते हुए हम तेरे समीप आते हैं।

हमारा उपास्य देव अग्नि है जो **"अग्निरग्रणीर्भवति"** सदा अग्रणी रहता है, सब जग का नेता है, अगुवा है, नेतृत्व करता है, सब को आगे ले चलता है।

पवित्रता के परिणाम स्वरूप मनुष्य प्रसन्न तृप्त होता; खुश होता, खिलता है। अतः साम में कहा गया—**अग्ने ! मृड महाँ असि।**

अग्नि स्वयं पवित्र है जैसा कि निरुक्त में आया है—**"अग्निः पवित्रमुच्यते"** यह पवित्र अग्नि अपने सम्पर्क में आई हुई हर वस्तु को पवित्र करती रहती है तभी तो वेद में कहा गया है। **"अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्। सा० ४" परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व मा सुचरिते भज।** यजुः अग्नि शब्द अगि गतौ से बनता है। अग्नि स्वरूप प्रभु स्वयं ज्ञान का भण्डार है। अतः अपने सम्पर्क में आने वाले को भी ज्ञान धन से सम्पृक्त करता है।

तभी तो वेद में कहा गया है—**"अग्न आयाहि वीतये।"**

वे अग्नि देव स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं अतः यह उस से सम्पर्क करता है। वह उस के अन्धकार को हर कर उसमें प्रकाश करता है तभी तो कहा गया है—**"अग्ने विवस्वदाभर"** साम–१० हे प्रभो ! **"विवासयति तमः इति विवस्वत्"** तू हमारे अन्दर ज्ञान ला, प्रकाश ला, जो हमारे हृदय के तम को अन्धकार को हरण कर लेवे।

वह ज्ञान ही नहीं गति भी देता है तभी तो कहा कि **"अग्न आयाहि वीतये।** हे अग्नि देव आ, किसलिए ?" मुझे गति प्रदान करने के लिए, उत्साह प्रदान करने के लिए। वह प्राप्ति कराता है तभी **"आयाहि"** कहा गया। कई वस्तुओं की प्राप्ति पर हमें आश्चर्य होता है, फिर भी वह प्रभु हमें प्राप्त कराता ही है।

अग्नि देव हमें बड़े–बड़े भयंकर, हानिकर और बर्बाद करने वाले, नष्ट कर देने वाले हिंसक पशुओं से बचा देते हैं। जैसे जंगल में फंसे हुए लोग आग खूब जला देते हैं तो उस आग को देखकर हिंसक जीव सिंह, सर्प आदि वहाँ नहीं आते ऐसे ही जिस अग्नि स्वरूप प्रभु की हम उपासना करते हैं अर्थात् वरणीय हृदय में प्रज्वलित कर लेते हैं तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि हिंसक तत्त्व वहाँ से दूर भागते हैं और इस प्रकार वे हमारी हिंसा नहीं कर पाते तभी तो वेद में कहा है। कि—

त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्य अरातेः। उत द्विषो मर्त्यस्य ॥
(साम० ६)

हे अग्ने ! तू हमें अपनी महान् तेजोमयी प्रेरणाओं से सकलविध अराति और द्वेष से बचा ।

अग्नि हमें महान् धन देता है, तभी तो वेद में कहा गया है– "**अग्निना रयिम्** । (ऋ० १।३)।" **अग्निना रयिमश्नवत्** । (ऋ० १।३) अग्नि के सम्पर्क में हमारा बुझा हुआ दीपक प्रज्वलित हो जाता है। "**अग्निनाग्निः समिध्यते** । (साम० ८४४)।" पर जिस अग्नि से हमारा बुझा हुआ दीपक जलता है वह अग्नि श्रद्धा से प्रज्वलित होता है– "**श्रद्धया अग्निः समिध्यते**"। (ऋ० १०।१५१।१)

अग्नि सदा आगे रहता है और अपने सम्पर्क में आने वाले को भी आगे ले चलता है ।

यदि अग्नि आगे न चलता होता तो भक्त अग्निस्वरूप प्रभु से क्यों प्रार्थना करता कि "**अग्ने नय सुपथा राये**" ।

अग्नि देव सुखदाता, प्रकाश, सत्य का प्रदाता है तभी तो कहा–

अग्ने मृड महाँ असि । (साम० २३)

वह अग्नि स्वरूप प्रभु देव पूज्य है, उपास्य देव है। जो नेता हो, प्रकाश देता हो, अन्धकार से बचाता हो, उत्साह देता हो, सुख देता हो, पापों से बचाता हो, सुपथ से ले चलता हो, आगे ले चलता हो तो फिर भला वह पूज्य क्यों न हो ? श्रद्धास्पद क्यों न हो ? उपास्य देव क्यों न हो ? तभी तो वेद में कहा गया है ।

अग्निमीळे । (ऋ० १।१) (**अग्निना रयिमश्नवत्**) मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ।

कविमग्निमुपस्तुहि । (साम ३२) अग्नि की स्तुति करो।

अग्निमीळिष्व । (साम ४९)

अग्नि तेजस्वी है, ज्ञलवान् है, वीर्यवान् है, मन्युवाला है, ओजस्वी है तभी तो हम प्रार्थना करते हैं ।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । बलमसि बलं मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । ओजोऽसि ओजो मयि धेहि ॥

अग्नि ऐसी चीज है कि हर कमी को पूर्ण कर देता है, तभी तो कहा कि–हे अग्नि देव ! "**यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण** ।" प्रभु वह सब कुछ करता है ।

अग्नि व्रतपति है, स्वयम् अपने व्रतों नियमों का पालन करता है। उस के सम्पर्क से उपासक भी व्रतपति बन जाता है। अपने नियमों का पालन करने लग जाता है। तभी तो वेद में कहा है—**अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि । तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥** (यजु० १।५) यह अग्नि जैसे कूड़ा-करकट आदि को जला देता है, वैसे हमारे अन्दर भी पाप-ताप आदि को भस्मसात् कर देता है। इस अग्नि को तब चैन आता है जब सब फूंक के धर देता है। यहाँ तक कि शरीर तक को भी राख बना के रख देता है। तब शान्त होता हैं। वैसे ही प्रभु रूप अग्नि हम में प्रज्वलित होकर सब शरीरों को फूंक-फूंक के जीव को उन से पृथक् कर तब शान्त होता है अर्थात् जब तक इन सब को राख बनाकर मिट्टी में मिला कर, हमें विवेक कराकर शान्त कर देता है, तब स्वयं शान्त होता है।

जहाँ आग होती है वहाँ गति होती है, वहाँ प्रकाश होता है, वहाँ से अन्धकार भागता है, अज्ञान भागा, हिंसक पशु, जीव और पाप वासनाएं भागती हैं। वहाँ अग्नि होती है, वहाँ सारे डिब्बों में हरकत आती है और हरकत में बरकत होती है। अग्नि नहीं तो डिब्बों में गति नहीं, विद्युत् अग्नि नहीं तो फैक्ट्री में गति नहीं, मशीनों में गति नहीं, रेल में गति नहीं, वायुयान में गति नहीं, बस, कार, स्कूटर आदि में गति नहीं, मानव में गति नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंगों में गति नहीं। अतः अग्नि की कृपा से गति होती है। वेद में एक जगह कहा है—**किं स्विद्धिमस्य भेषजम् ।** ठण्डे पड़ जाने की निराश हो जाने की, अनुत्साहित हो जाने की, जड़ हो जाने की क्या दवा है तो कहा—"**अग्निर्हिमस्य भेषजम् ।**" अग्नि हिम (शीत) की दवा है, जठराग्नि कमजोर पड़ने लगती है तो अदरक, सौंठ आदि खाने लगते हैं।

जिस अग्नि के हरण गुण हैं वह सदा सब शुभ कर्मों में आगे रखा जाता है— "**अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते ।**" नेता को, विद्वान् को, सेनापति को, इञ्जन को, अनुयायियों के, श्रोताओं के, शिष्यों के, सेना के डिब्बे को आगे रखा जाता है। देश की रक्षा, विद्या के प्रचार और प्रसार, परोपकार, सेवा आदि शुभकार्यों में अग्नि को, इन नेता आदि सब को आगे रखा जाता है। ऐसे जीवन के सभी शुभकर्मों में यज्ञ को, यज्ञस्वरूप प्रभु को आगे रखा जाता है। यज्ञ में सूर्य को, प्रभु को आगे रखा जाता है। विद्वान् को आगे, फिर वेदपाठियों को आगे रखा जाता है आदि। प्रभु को भी सब

कार्यों के आरम्भ में रखा जाता है, सभी शुभकर्म ईश्वर-स्तुतिप्रार्थनोपासना से आरम्भ होता है।

एक समय था कि हम प्रभु को पीठ पीछे रखते थे। पहले पेट-पूजा फिर काम दूजा। अब ऋग्वेद का पहला मन्त्र जीवन में घटाते ही, होश संभालते ही मानव पहले-पहले बोला-

मैं प्रकाशस्वरूप प्रभु की उपासना करूँगा। यह नहीं कि रोटी खाया करूँगा आदि-यह मानव चोला ही, ऐसा मिला है जिस में उस परमपुरोहित का धन्यवाद किया जा सकता है।

"अङ्गा नयतीति सन्नयमानः" अग्नि को जब हमने अपने यहाँ बुलाया, जलाया, प्रज्वलित किया और बाहें लोहे का गोला या अपने आप को भी रखा तो उस ने हमारी, गोले की शीतलता हरण की, हमारी ठण्ड से हो रही कंपकंपी दूर की, हमारे घर आकर हमें प्रकाश दिया, हमें ठोकर खाने से बचाया, सर्दी से बचाया, हमारे भोजन को पकाया, दूध को औटाया, उस ने वात को भगाया, हमारी सामग्री को प्रज्वलित कर सब वातावरण को सुगन्धमय बनाया। पेट में जठराग्नि रही तभी जीवन रहा, तभी भोजन पचा, तभी सब सृष्टि Worly करती रही। आँख में अग्नि ज्योति रही तभी दीखता रहा, ठोकरें खाने से बचे, पर असमर्पित अग्नि तो केवल प्रकाश देकर हमें ठोकर से बचा सकती है, हमारी कंपकंपी दूर कर सकती हैं, बाहों की ठण्ड को मार सकती है पर समर्पित लोहे को वह अपना रूप प्रदान कर देती है, फिर उस लोहे को कोई हाथ नहीं लगा सकता। उस में और अग्नि में अन्तर नहीं लगता पर दूर होते ही फिर वही हाल। अब अग्नि को अपने यहां न बुलाकर हम अग्नि के प्रति समर्पित हो जायें तो हमारी अक्ल भी, शक्ल भी, वैसा व्यवहार भी, वैसा प्यार भी, अनुपम सेवा भी, निराली भी, निराला जग से निराला, प्रभुसम सहानुभूति भी, अद्भुत व्यवहारों में अत्यन्त दिव्य आदि गुण हम में आ जाते हैं।

जैसे प्रभु अपने उपकारों को गाता नहीं वैसे मैं न गाऊँ। जैसे वो अपने निर्मित पदार्थों पर अपना नाम का पत्थर नहीं लगाता वैसे मैं भी नहीं लगाता, मैंने मोम, मिट्टी के बहुत बढ़िया आम, अंगूर, सेब आदि बनाए, तो उस पर अपनी मोहर लगा दी, जूतों पर बाटा, बालूजा, कपड़ों पर मोदी, बिरला आदि की मोहरें लगाईं, पर मेरे प्रभु ने सूर्य, चन्द्र नाना प्रकार के शरीरों को बनाया पर किसी पर अपनी कम्पनी की मोहर न

लगाई तो फिर भला उस का प्यार तत्सम हुआ। उस के आम में रस है, महक है, स्वाद है, तृप्ति है पर अनाम है। "जैसा वह न्याय करता है, मैं भी तत्सम न्याय, स्नेह, सहानुभूति आदि करने लगा।"

पहले हम कहते थे कि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, ओजोऽसि ओजो मयि धेहि॥ हे अग्ने! हमें बल दो, तेज दो, मन्यु दो, ओज दो।

एक समय वह था जब हमें सर्दी सताती थी तो हम अग्नि के साधनों को लाकर अपने यहां जलाते थे। कोट, गर्म कपड़े खरीदते थे, गर्म पदार्थ सोंठ, अदरक, काजू आदि लाते थे।

अग्न आयाहि वीतये। अग्नि को, विद्वान् को, ज्ञानी को, योगी को, तपस्वी को, अपने यहां बुलाते हुए कहते थे कि आप आओ, हमें गति, उत्साह और आशावान् जीवन प्रदान करने को और **"नि होता सत्सि बर्हिषि"** हमारे सम्मान पूर्वक बिछाए हुए आसन पर विराजमान होकर हमें उपदेश दें, प्रकाश दें, **"अग्ने नय सुपथा राये"** हमें सुपथ से ले चलें। रावलपिण्डी के लोगों में जान न रही सभी घर रूपी बिलों में घुस गए, पर लाला जी आए। एक भाषण हुआ तो जनता में जान आ गई, तेज आ गया—एक समय था जब विद्वान् ज्ञानी, नेता, पथ-प्रदर्शक आदि हमारे पास आते थे। हम इन को अपने यहां श्रद्धा प्रेम से बुलाते थे। इन से प्यार पाते थे, आशीर्वाद पाते थे, ज्ञान पाते थे, प्रकाश पाते थे, परन्तु अब हमारा जीवन बदल गया अब हम यह नहीं कहते कि **अग्न आयाहि वीतये।** बल्कि हम यह कहते हैं—**अग्ने वयम् त्वा उप एमसि।**—हे अग्ने! ज्ञानी, नेता, विद्वान् परमेश्वर! हम सब तुम्हारे समीप आते हैं, यह परिवर्तन बड़ा ही निराला हुआ है, दर्शनीय हुआ है, प्यारा हुआ है, अनुपम हुआ हैं, जीवन में पहले हम अग्नि को घर बुलाकर उस से तेज पाते थे, गर्मी पाते थे, और उस को अपनी घृत सामग्री आदि की आहुतियों से तृप्त करते थे, पहले ज्ञानियों ध्यानियों को, उपदेशक विद्वानों को हम अपने विलास भरे घरों में बुलाते थे। उन से बहुत कुछ सीखते थे, उपदेश लेते थे, ज्ञान पाते थे, आशीर्वाद पाते थे और उन्हें अपने दुनियावी भोजनों और दुनियावी राजसी ठाठों, कार-कोठियों, और उन के भोग में लगा देते थे—पर अब स्थिति बदल गई है। अब हम उस अग्नि के प्रति समर्पित होते, और अन्त में अग्नि के प्रति अपने को पूर्णतया समर्पित कर देते हैं।

ऐसे ही पहले दयानन्द, गांधी, लाला लाजपत राय को अपने यहां

बुलाते थे। फिर हम भी इतने बदले कि स्वयम् इनके पीछे चल पड़े। अपने घर-बार का सुख सौभाग्य ठाठ-बाट, कार, कोठियाँ आदि छोड़कर चले। पण्डित गुरुदत्त, महात्मा हंसराज, पण्डित लेखराम, श्रद्धानन्द, आचार्य विनोबा भावे, लालबहादुर शास्त्री आदि।

अब हम स्वामी जी, महात्मा आनन्द स्वामी जी को नहीं बुलाते, अब तो हम स्वयम् उन के पास जाकर सात्त्विक स्थानों में रहकर सादा भोजनों को खाकर महान् यज्ञों को देखकर अपनी जीवन-ज्योति को जलाते हैं।

ये ज्ञानी विद्वान् तपस्वी महात्मा जब अपने यहां शिविर लगाते हैं तो वेद के शब्दों में- **"अग्ने त्वा उप एमसि"** अब हम कहते हैं कि हम आप के पास आएंगे। यहां की विशेषता यह है कि ये महापुरुष जीवन से, अपने वातावरण से, यज्ञादिकों से, सात्त्विक भोजनों से, सीधे-साधे भोजनों से, हमें मूक रूप में पाठ पढ़ाते हैं कि देखो, साधना में लाभ तो होगा, पर साधना के लिए अपने घर के वातावरण को अनुकूल बनाओ। भोजन को अनुकूल बनाओ। **"सखाय आ निषीदत"** अपने संग साथियों को अनुकूल बनाओ या उन लोगों में बैठो-उठो, समय व्यतीत करो जो तुम्हारी विचारधारा के अनुकूल हैं, तुम्हारी राह से जिन की राह मिलती है, तुम्हारे विचारों से जिन के विचार मिलते हैं, तुम्हारे स्वभाव से जिन के स्वभाव मिलते हैं, तुम्हारे गुणों से जिन के गुण मिल रहे हैं, तुम्हारे स्नेह, सहानुभूति, भक्ति, तप, त्याग से जिन का मेल खाता हो, उन को नगर में रहकर ही अपना संगी बनाओ, फिर मिल जाओ तो गप्पों में न लगो, निन्दा स्तुति में न लगो। **"पुमानाय प्रगायत"** निरन्तर जो आप को पवित्र करता रहता है, धोता रहता है, प्रेरणा देता रहता है, उस को गाओ, जी भर कर गाओ, अन्तःकरण की टीस के साथ गाओ, विभोर होकर गाओ, फिर देखो क्या दृश्य उपस्थित होता है।

महापुरुष विद्वान्, ज्ञानी, तपस्वी कहते हैं—सादा खा, सादा पी, सादा पहन, सादा रह, ताकि ठाठ बाट के साथ स्वभावतः रग-रग में तुम्हारे अन्दर जो घुस जाने वाला अभिमान है उस से तुम बच जाओ। जो आप की सरलता, नम्रता, शीतलता को चुराने आ जाता है। अतः सादा रहो, सादा सोचो, सादा खाओ, सादा पीयो आदि-आदि।

ज्ञानी विद्वान् संन्यासी, तपस्वी अपने यहां समय पर घण्टी बजाते हैं, साधना करवाते हैं और इस प्रकृष्ट कार्य रूप में प्रेरणा देते हैं कि ऐसा

किया करो, जिस से तुम्हारा जीवन महान् बने, फिर जब हम एक बार ऐसे महापुरुषों के यहां जाते हैं तो फिर इतना आनन्द आता है कि अगले वर्ष उन दिनों के लिए प्रतीक्षा ही करते रहते हैं और एक दिन हम भी वैसे ही बन जाते हैं।

एक समय वह था जब हम सर्दियों में ठिठुरते हुए सूर्य को याद करते थे कि वह आए और हमें प्रकाश दे, हमें सहारा दे, हमें उष्णता दे कि हमारी कंपकंपी समाप्त हो और एक दिन वह आया कि हम सूर्य मार्ग के पथिक बन गए।

एक समय था कि जब हम कहते थे कि, **"अग्न आयाहि"** हे प्रकाश स्वरूप प्रभो ! आ और "मेरी अन्धेरी कुटिया में प्रकाश कर, ईश्वर मेरी कुटिया में आ जा दीपक मेरा जला जा।"

अर्थात् कभी मैं कहता था कि प्रभो ! मेरे घर में रहो। उस की चर्चा, चिन्तन, मनन, उपदेश, भजन, पूजन मेरे घर में हो, अर्थात् वह हमारे घर में सब की श्रद्धा का, भक्ति का, उपासना का, जप का, स्मरण का, भजन का विषय बन जाये पर अब भक्त कहता है–

"अग्ने त्वा उप एमसि।" अब हम तुझे नहीं बुलाते हैं, बल्कि हम स्वयं तुझे प्राप्त होते हैं, अब हम तेरे दर पर आते हैं, अपने सब साजो-सामान बाहर छोड़ कर आते हैं। सब का स्नेह सहानुभूति छोड़ कर आते हैं। कार, कोठी, जमीन-जायदाद छोड़ कर आ रहे हैं जैसे तू सब कुछ बना कर, सब प्रकार के अन्न, फल, फूल बनाकर दूसरों को दे देता है, वैसे ही हम सब कुछ कमाकर सब कार, कोठी, जमीन, जायदाद बनाकर दूसरों को देकर चले आ रहे हैं, जैसे आप सब कुछ बनाकर औरों को उपयोग करने को दे देते हैं स्वयम् उपयोग करते नहीं। वैसे हम भी सब बनाकर दूसरों को उपयोग के लिए दे आए हैं।

हम भी कुटिया बनाते हैं, पर न अपने लिए, न अपने परिवार के लिए, बल्कि औरों के लिए बनाते हैं, पहले कभी लाइब्रेरी अपने लिए बनाते थे, पर अब स्वयं नहीं पढ़ सकते। लाइब्रेरी उस से भी बड़ी बनाते हैं इसलिए कि और लोग खूब पढ़ सकें।

पहले अपनी कुटिया, मकान, कोठी बनाते थे और एक बनाते थे पर अब अनेक कमरों, कुटिया वाले वार्ड बनाते हैं फिर एक भाग पूर्ण आश्रम फिर शाखा नं० १ फिर नं० २ फिर उस की दूर-दूर शाखाएं-क्या इसलिए कि इन में स्वयं रहेंगे? नहीं औरों के लिए, सब के लिए, अब यह भी प्रभु

के समान कार्य करने लगा, पहले यह अपने से या अपने परिवारमात्र से प्यार करता था, पर अब इस को सभी प्यारे लगते हैं, सभी अपने लगते हैं, सभी अच्छे लगते हैं, पहले अपनों से स्नेह करने पर इसे सुख मिलता था, पर अब सब से स्नेह करते हुए इसे तृप्ति मिलती है।

एक समय था कि हम कहते थे– **"अग्न आयाहि"** प्रभु आए किसलिए हमें गति देने के लिए, ज्ञान देने को, ध्यान देने को, गति देने को, कार देने को, हमारे में, उत्तम भाव देने को, हमारे दुर्गुणों को खा जाने को, भस्म कर देने को, हमें सन्तान देने को, धन–वैभव, स्नेह, सहानुभूति, आशीर्वादादि देने को आइये, पर उन प्रभु–प्रदत्त प्रसादों को मैंने ही सेवन किया, पर अब आदत बदल गई। वह यह कि मैं प्रभु को नहीं बुलाता बल्कि अब हम **"अग्ने ! त्वा उप एमसि"** प्रभो तेरे समीप आ रहे हैं, अब तक लेने को आते थे अब अपने को चढ़ाने आया हूँ, अपने को समर्पित करने आया हूँ। एक समय था जब बुद्धि मांगता था, तुझे बुलाता था, तेज, ओज, धन, देह, बल आदि मांगता था, पर अब तो अग्निदेव! तेरे चरणों में आ रहा हूँ, हम तुम्हारी शरण में आ रहे हैं– **"अग्ने त्वा उप एमसि"**।

उरुज्योतिर्विदक्षे। ध्यान : ध्यानी जो महान् ज्योति पाते हैं। निरन्तर पुनः–पुनः खूब निरन्तर ध्यान करने वाले महान् प्रकाश को पाते हैं। प्रज्ञा ज्योति नहीं, अपितु **उरु ज्योतिः** महान् ज्योति को निरन्तर ध्यान करने वाले पाते हैं, जिस को वेद ने यहां महान् ज्योति कहा है, उस को प्रभु या प्रभु का पावन प्रकाश कहते हैं। इस को पाने के लिए निरन्तर ध्यान करना पड़ता है–हिन्दी में हम सब भजन में ही पढ़ते हैं **योग–साधन के बिना उसे कोई पाता नहीं।** इस कविता में भी योगसाधन से प्रभु–प्राप्ति का फल मिलता है पर योग जिससे वह पाया जाता है वह योग प्रभु–प्राप्ति का साधन है और योगदर्शन में कहा है **"योगः समाधिः"**। जो योग है वह समाधि है (**समाधि–चित्त वृत्तियों का समाधान**) अब वेद में जिसे ध्यान कहा है वह समाधि का प्रारूप है। वह ध्यान है– क्योंकि जिसे हम ध्यान कहते हैं उस का प्रारूप धारणा ही **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।** (योग० ३।१) किसी देश विशेष पर जब चित्त को बांधा जाता है, स्थिर किया जाता है उसे धारणा कहते हैं। **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।** उस चित्त में जो ज्ञान के साथ बराबर धारणा बनी रहे तो उस को ध्यान कहते हैं। जैसे एक घड़ी जिस में अङ्क और काँटा है, उस घड़ी

को देख लेने पर धारणा बनी—यह घड़ी है। यह ज्ञान बराबर चित्त में बना रहा तो वह ध्यान कहाता है। इस ध्यान में ध्याता आत्मा और ध्यान के साधन को बुद्धि और ध्येय द्वारा घड़ी का साथ-साथ भान होता रहता है अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों का भान होता रहता है परन्तु **"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः"** ॥ (योग० ३।३) अगर यह घड़ी ध्यान में केवल अर्थ मात्र का, ध्येय मात्र का, भान रहा और ध्यान के साधन बुद्धि और ध्याता-ध्यान करने वाले साधक अपने आप को भूल गया तो वह समाधि हो जायेगी।

वेद के शब्दों में कहा जाए तो ये तीन धारणा, ध्यान और समाधि ध्यान ही हैं। प्रथम धारणा में अस्थिरता है, द्वितीय ध्यान में स्थिरता तो है ध्येय के साथ ध्याता ध्यान-बुद्धि का भी ज्ञान बना रहता है और ध्यान की तृतीया अवस्था समाधि में वह अपने को और ध्यान के साधन को भूल जाता है।

योग के शब्दों में, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार योग के बहिरंग हैं और धारणा ध्यान, समाधि अन्तरंग हैं। (यह सम्प्रज्ञात समाधि है असम्प्रज्ञात सर्वावस्था है।)

योगदर्शन वेद के ब्रह्मविद्या सम्बन्धी गुत्थियों वेद को सूत्रों में खोलता है पर वेद की इन गुत्थियों को योग में मिलाकर देखने में बहुत आनन्द आता है और पता लगता है कि वेद कितना पढ़ा जाता है तो भी महर्षि पतञ्जलि के प्रति हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने दिव्य रसों से हमारी झोली भर दी।

दीध्यानाः—यह शब्द ध्यैङ् चिन्तायाम् से बनता है—

ध्यान विचार को भी कहते हैं। ध्यान का एक सामान्य अर्थ है ध्यान करने वाले। ध्यान का एक समान अर्थ है—विचार करना प्रत्येक पदार्थ के गुण दोषों का विवेचन करना विचार है। अमुक पदार्थ उपादेय है, ब्रह्म है, अमुक देय है। इस प्रकार के विषय को विचार कहते हैं। हेय उपादेय का विचार करके हेय को त्याग कर उपादेय को ग्रहण कर आत्मसात् करने का नाम ध्यान है।

अर्थात् ऐसी अवस्था जिस में ध्येय वस्तु पर चिर काल तक अटूट विचारधारा निर्बाध रूप से बनी रहे, उस को ध्यान कहते हैं। इस ध्यान का फल महान् प्रकाश है। अनुभवी जन इस का समर्थन करते हैं।

(ऋ० ७।९०।५) में कहा है—

ते सत्येन मनसा दीध्याना स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति ।

ये सच्चे मन से ध्यान करने से, अपने सच्चे कर्म से युक्त निर्वाह करते हैं। उन के ज्ञान, कर्म तथा मन में कोई खोट नहीं होता। ध्यान का साधन भी बता दिया कि वह मन से होता है। उस के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व्यवहार में किसी प्रकार का असत्य नहीं होता अतः उस के निष्पाप होने में किस को सन्देह हो सकता है ।

स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति । (७।९०।५) में एक और संकेत है–उन का आहार व्यवहारादि युक्ति–युक्त होता है ।

गीता में भी **"युक्ताहारविहारस्य"** कहा है । ऋग्० ७।९०।४ में जो ध्यानी (दीध्यानाः) निरन्तर प्रतिदिन प्रातः सायं श्रद्धा पूर्वक खूब ध्यान करने वाले उस महान् ज्योति को पाते हैं उन के लिए इस मन्त्र में ध्यान करने के साथ–साथ कुछ और विशेषता भी बताई गयी है ।

उच्छन्नुषसः सुदिनाः अरिप्रा उरु ज्योतिः विविदुर्दीध्यानाः ।

निरन्तर ध्यानी लोग अपने अज्ञान और अविद्या के अन्धकार को छिन्न–भिन्न करते हैं । जैसे कि **"उच्छन्नुषसः"** निकलती हुई उषाएं अपने अन्धकार को दूर करती हैं–जीवन में स्वाध्याय का प्रकाश ध्यान के लिए पर्याप्त सहायक है और इस बात को तो सभी स्वीकार करते हैं कि जीवन के प्रथम भाग में सब को ज्ञानार्जन करना ही चाहिये और प्रायः सभी करते हैं। जब स्नातक बनकर गुरुकुल से विदा होते हैं तब भी आचार्य शिष्य को अन्तिम विदाई सन्देश में कहता है–**स्वाध्यायान्मा प्रमदः। स्वाध्याय–प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।** हे शिष्य ! जीवन में अर्थसंग्रह या विलास में पड़ कर कभी स्वाध्याय को मत छोड़ना। स्वाध्याय मनुष्य को सदा अन्दर बाहर से मांजता रहता है । अपने कर्तव्य के प्रति जीवन के परमोद्देश्य के प्रति सदा जागरूक रखता है । [illegible] मनुष्य को प्रमाद की नींद, गफलता की नींद सोने नहीं देता और स्वाध्याय के साथ दिया जाने वाला प्रवचन जहाँ हमारे स्वाध्याय को स्थायी और परिपक्व बनाता है, वहां अपने उपदेशानुसार समाज में वैसा ही बने रहने को सदा प्रेरित करता रहता है। अतः आचार्य ने ऐसा कहा। मनुष्य जब गृहस्थ समाप्त कर वानप्रस्थ की ओर अग्रसर हुआ–तो फिर मनु जी ने, ऋषि दयानन्द ने, ओंकार ने सावधान किया, **"स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात् ।"** को भले ही घर छोड़ कर वन चले (**अग्निहोत्रं समादाय**) जाओ पर यज्ञकुण्ड अग्निहोत्र के लिए सतत लगे रहना । यदि उदर ठीक न हो तो

भोजन भले ही उस दिन मत करना, पर स्मरण रखना कि स्वाध्याय में नित्य वृत्ति बनाए रखना। संन्यास लेकर जब एक ने गेरुए वस्त्र धारण कर लिये और अब सब छोड़ कर आगे बढ़ा तो ऋषिवर मनु जी का सन्देश हाथ में लेकर उसके सामने खड़े हो गए और बोले– **"संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।"** भले ही अन्य सब कृत्यों से संन्यास ले लो परन्तु वेद का स्वाध्याय कभीं मत छोड़ना, क्योंकि यह स्वाध्याय सदा उषा के समान तुम्हारे अज्ञान को अविद्या, अन्धकार को हटाता हुआ तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करता रहेगा। ज्वालापुर में एक दम्पती है। उन का प्रथम पुत्र हुआ। दुर्भाग्य से कुछ समय के उपरान्त उस की मृत्यु हो गई। पर्याप्त समय तक उस घर में दुःख व्याप्त रहा। मित्र, पति के अनुसार पर्याप्त समझाया और फिर अन्त में कहा, बहिन जी आप किसी न किसी सात भाषा में धार्मिक आध्यात्मिक पुस्तक का स्वाध्याय किया करो तो वह बोली कि– भाई साहब **"जेता पढ़िया तेता कढ़िया"**, जितना ही जग में पढ़ना उतना ही परेशान होना, ऐसी बहिन की आने वाली सन्तान भी धक्के मार-मार के पढ़ने में किसी न किसी प्रकार पास होते हैं। ऐसे–जैसे कि कटड़े को धक्का देकर आगे बढ़ाते हैं, फिर जिनके माता पिता विद्या (स्वाध्याय) के प्रति उत्साही होते हैं, उन की सन्तान भी गोवत्स के समान विद्या प्राप्ति के प्रति उत्साहशील होकर गतिमान् बनते हैं। अब जो स्वाध्याय को यह समझे कि जितना ही पढ़ना उतना ही परेशान होना तो बताओ वे अपने जीवन में क्या कर सकेंगे। उन के दिन दुर्दिनों में बदल कर उन्हें दुर्दिना बना देते हैं और दिन जहां उन के दुर्दिनों में परिवर्तित हो जाते हैं वहाँ उन की रातें भी दुःरात्रियाँ हो जाती हैं। उन्हें फिर मखमली गद्दे भी काँटों की सेज लगते हैं और उन्हीं पर वे करवटें बदलते रहते हैं, अगर स्वप्न भी आते हैं तो भी बुरे, भयानक, उत्साहनाशक जहां रातें दुःरात्रियां बनीं वहां प्रभात भी दुष्प्रभात और सायं भी दुःसायं बन जाते हैं। अतः सुदिना बनो।

सुदिना=वेद कहता है–दूसरा गुण ध्यानियों का यह है कि वे सुदिना होते हैं वे अपने जीवन के दिनों को सु-सुन्दर विचारों से तथा सुन्दर विचारों को सुन्दर व्यवहारों से, सुन्दर कृत्यों से युक्त करते हैं। इस प्रकार जब उन के दिन सुविचारों एवं सुकृत्यों से ओत प्रोत हो जाते हैं तो वे उन को सुरों-(**सुष्ठु रमन्ते ये ते सुराः**) देवों की पंक्ति में ला खड़ा करते हैं। पृथिवी, लोक, भूलोक नाभि से, अधः लोक से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष

में ही नहीं अपितु द्युलोक शरीर के सर्वोत्कृष्ट स्थान में ला खड़ा करते हैं। इस प्रकार दिन सुदिनों में परिवर्तित कर उन्हें सुदिनाः बना देते हैं। सुदिनों के परिणाम स्वरूप उन की रात्रियाँ भी सुरात्रियों में बदल जाती हैं। वेदों के शब्दों में (**अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रीः प्रतिधीयताम्।**) अर्थात् या तो चैन से सो जाते हैं या स्वप्न भी आए तो दिव्य स्वप्न आते हैं। जब दिन सुदिनों में और रात्रियां सुरात्रियों में बदल जाती हैं तब उन की प्रभात भी सुप्रभात और सायं भी सुसायं बन जाती है। इसके विपरीत आचरण करने पर जीवन, ऋग्वेद (७।९०।४) के आधार पर मैं आपके सम्मुख बता रहा था कि **"उरु ज्योतिः विविदुर्दीध्यानाः"** निरन्तर ध्यान करने वाले महान् ज्योति को प्राप्त करते हैं (**विविदुः विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विदलृ लाभे विद् सत्तायाम्**)।

यह महान् ज्योति, यह महान् पूजनीय, दिव्य प्रकाश- दिव्य आनन्द वास्तव में ध्यानी पाते हैं।

कई कहेंगे हमारा तो सिर दुखने लगता है, सिर चकराने लगता है, सिर दर्द करने लगता है तो उन से निवेदन यह है कि वे अपनी दशा पर पुनः विचार करें। जो सोने के लिए नींद को धारण किया और झट नींद से वृत्ति बदली, फिर नींद का विचार और फिर अन्यत्र ध्यान। बच्चे को माँ ने सुलाया कि सो जा आँख बन्द कर, पर झट उस का नींद से ध्यान हटा और बोला कि श्रद्धा आँख खोल रही है। अब उस से पूछो कि अगर श्रद्धा ने आँख खोली है और तू उसे बता रहा है। माँ को तो बता तेरी आँख कैसे बन्द रही ?, इस का मतलब कि तेरी आँख भी खुली हुई है तो इस नींद की धारणामात्र से नींद का आराम नहीं मिल सकता। कई कहते हैं हमें रात में जरा सी झपकी आ जाती है पर फिर नींद चूहे के खटके या पत्ते के हिलने से भी खुल जाती है। अतः रात भर नींद नहीं आयी, बल्कि नींद की झपकियां ही लेता रहा और रात भर स्वप्न ही देखता रहा थोड़ी नींद और फिर स्वप्न प्रातः आलस्य रहा बोला सिर टूटा जा रहा है, सिर भारी है, किसी कार्य को करने का उत्साह नहीं होता, सिर चकराता है। पर एक दूसरा व्यक्ति है जो नींद की न धारणा, न ध्यान करता है बल्कि उस में खो जाता है। अपने आप को भूल जाता है, इस को मोटी भाषा में कहते हैं कि—"यह तो आज घोड़े बेच कर सोया है अर्थात् निश्चिन्त सोया हुआ है।" (**योग में निश्चिन्तो उच्यते**)।

यह जो नींद में अपने को खोना है अपने अहम् को भूल जाना है (मन

दुरित नाड़ी में चला जाता है) यह वास्तविक निद्रा है ऐसी नींद आने पर प्रातः उठने में उत्साह, अनालस्य, स्फूर्ति, शरीर में हल्कापन, मस्तिष्क में हल्कापन, तब यों समझो कि सारा शरीर हल्का-हल्का सा लगता है। ध्यान की भी यही प्रक्रिया है। धारणा वालों की तो जाने दो। ध्यान में त्राटक आदि करने वाले भी बोलते हैं कि हमारा तो सिर दर्द करने लगता है, हम से तो नहीं होता, तब उन्हें प्रभुभक्ति के भजन गाओ, जप करो, तप करो आदि कहा जाता है, पर वहाँ भी धारणा ध्यान करने के उपरान्त ध्यान में अपने को भूल जाने से सच्चा ध्यान अर्थात् समाधि होती है और उस समाधि की प्राप्ति में इस नींद की अपेक्षा भी अधिक हल्कापन सुख प्रसन्नता होती है।

नींद में भी मन, शरीर कार्य नहीं करते। प्राण और जीव जागते रहते हैं, पर नींद तमोगुण का परिणाम है। अगर तमोगुण के परिणाम स्वरूप यदि इतना आराम मिलता है तो समाधि में मन के लय हो जाने से जो विश्राम मिलेगा वह अद्वितीय होगा। उस के उपरान्त उत्साह, आनन्द, हल्कापन, स्फूर्ति, तृप्ति आदि सब गुण अद्वितीय होंगे।

परन्तु इन ध्यानियों के लिए मैं कल बता रहा था कि कुछ और विशेषताएं दी हैं वे निकलती हुई उषाओं के समान अन्धकार का निवारण करती रहती हैं। वे उत्साही होते हैं, वे 'अरिप्रा' होते हैं। फिर—

'गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुतस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः।'

वे अविद्या तम अन्धकार का निवारण करने वाली उषाओं के समान अपनी अविद्या को अपने अज्ञान को अपने तपों को दूर करते रहते हैं। वे उस के लिए स्वाध्याय करते हैं, स्वयं नहीं कर सकते (आंखों के अभाव में तो अन्यों को कहते हैं आप पढ़ो और हम कर्णों से चक्षुओं का कार्य ले कर स्वाध्याय करते हैं।) इतने पर भी उन्हें तसल्ली नहीं होती वे कहते हैं। ऋ० १।४०।३।

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवाः यज्ञं नयन्तु नः॥

वे अपनी मनन शक्ति से स्वाध्याय करते हैं। उन्हें यह मालूम है कि यह स्वाध्याय-देवों, ऋषियों के उपदेश हमें पात्र बनायेंगे— **"नः पात्रं अनयन्त देवाः।"** देव हमें पात्र बनाएं। एक पीतल का टुकड़ा है, पर न दूध न दही, न एक भाजी, न खीर कुछ भी नहीं डाल सकते थे। शिल्पी ने उस का पात्र बनाया तो अब उस में हर वस्तु डाल सकते हैं और साफ

सुथरा होने पर उस में हर वस्तु डाल सकते हैं तथा साफ सुथरा होने पर हर एक प्रसन्नता पूर्वक उस पात्र में वस्तु डालेगा।

इसी प्रकार इन देवों के उपदेश या देवों का सम्पर्क हमें पात्र बना देगा। जब हम पात्र बन जायेंगे तो हमें अपने से आयु, अनुभव एवं ज्ञान आदि से बड़े लोगों द्वारा आशीर्वाद मिलेगा, समानों से स्नेह मिलेगा, छोटों से श्रद्धा मिलेगी, सुख मिलेगा आदि। अगर हम पात्र न बने तो यह सब हम को नहीं मिलेगा।

आज का मानव अपने को कितना सुसभ्य और महान् समझता है पर विश्वासपात्रता कितनी समाप्त है। हजारों में कोई विरला होगा, जिस को यह विश्वास होगा कि मेरी सन्तान मेरा ध्यान रखेगी? इसी अविश्वास का मूल परिणाम है कि आज वार्धक्य में भी अपना सब स्वत्व बनाए रखना पड़ता है। पर अगर सच्ची सन्तान होगी तो अपने बाप के हृदय में अपने प्रति यह अविश्वासपात्रता देखकर दया के अश्रु बहायेगी।

ये देव **"देवा यज्ञं नयन्तु नः"** यज्ञ में यज्ञशील बनायेंगे। ये हमें देना सिखलायेंगे और यहाँ उषा के कई विशेषण दिये गये हैं—यह उषा दिवो दुहिता होती है। ये ध्यानी भी द्युलोक के पुत्र होते हैं। प्रकाश स्वरूप प्रभु की अपने को सन्तान मानते हैं तो ऐसी अवस्था में ये अपने को कभी गरीब नहीं समझते हैं, सदा अपने को धनवान् मानते हैं। ये औरों से धन मांगने की तो बात क्या सान्त्वना आदि भी नहीं मांगते। ये तो प्रभु से भी मांगते हैं तो भिखारी बन नहीं अधिकारी बनकर मांगते हैं। भिखारी ने १० पैसे मांगे आपने मुश्किल से दिये।

ज्योतिर्वसाना—जैसे उषाएं ज्योति को अपने वस्त्र समझ कर ओढ़ती हैं ऐसे ही ये ज्ञान-प्रकाश को अपना दिव्य धन समझकर इसी से आलोकित करते हैं। जैसे और लोग धन से विद्युत् आदि लगाकर अपना अन्धकार दूर करते हैं वैसे ये ज्ञान के प्रकाश से अपनी अविद्या तमोगुण आदि को दूर भगाते हैं।

ये उषाएं—ये उषाएँ दैवी आदेशों का उल्लंघन नहीं करतीं। **अमिनती दैव्यानि व्रतानि।** (ऋ० १।१२४।२)। ये उषा दिव्य व्रतों को नहीं तोड़तीं। ऐसे ही ये ध्यानी जन भी **"उच्छन्नुषसः"** दिव्य व्रतों को नहीं तोड़ते। वेद में अन्यत्र भी आता है— **"तस्य व्रतानि न भिन्दन्ति धीराः"** धीर जन उस के व्रतों का उल्लंघन नहीं करते।

(ये प्रमिनती मनुष्याः) सामान्य जनों की आयु को समाप्त करती

रहती हैं क्योंकि वे बिना उद्देश्यों से चलते हैं।

ईयुषीणामुपमा शश्वतीनामायतीनां प्रथमोषा व्यद्यौत् ।।

(ऋ० १।१२४।२)।

ये उषाएं जैसे गुजरी हुई उषाओं की एक उपमा होती हैं और आने वाली उषाओं में प्रथम कोटि की आदर्श होती हैं वैसे ही ये ध्यानी जन होते हैं।

उच्छन्नुषसः—गुज़रे हुए ध्यानियों की उपमा एक मिसाल होते हैं और अगले आने वाले ध्यानियों के लिए एक आदर्श ध्यानी–प्रथम कोटि के ध्यानी होते हैं।

ज्योतिर्वसानाः—उषा ज्योति का ओढ़ना ओढ़े हुए है। ऐसे उच्छन्नुषसः—निकलती हुई उषाओं के समान ये विद्वान् भी 'ज्योतिर्वसानाः' होते हैं। **"वस निवासे, वस आच्छादने"** ज्योति इन में बसती है और ये ज्योति में बसते हैं। सत्संग रूप ज्योति में ये रमण करते हैं और सत्संग इन में रमण करता है प्रभु के प्रकाश में ये रमण करते हैं प्रभु का प्रकाश इन में रमण करता है। ज्योति इन को ओढ़ती है और ये ज्योति को ओढ़ते हैं। प्रभु में ये बसते और प्रभु इन में बसता है। यह पुस्तकों शास्त्रों में बसता है और शास्त्र उस में बसते हैं।

ज्योति परिणाम है वास्तविकता का। अतः वह सात्त्विक वातावरण में रमण करता है, सात्त्विक वातावरण उस में रमण करता है। सात्त्विकता द्यौ में बसती है, अतः यह द्यौ में बसता और द्यौ उस में बसता है। द्यौ देवों का घर है। अतः वह देवों में चलता है, देव उन में बसते हैं और वह साधुओं में, सज्जनों में, महापुरुषों में, योगियों में रमण करता है। साधु सज्जन महापुरुष में, योगी तपस्वी उस में रमण करते हैं। वह सात्त्विक व्यक्तियों में, सात्त्विक स्थानों में, सात्त्विक पदार्थों में, सात्त्विक वस्त्रों में रमण करता है और सात्त्विक व्यक्ति, सात्त्विक स्थान, सात्त्विक पदार्थ, सात्त्विक वस्त्र उसमें रमण करते हैं।

ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधुः—यह उषा ऋतु नियमों का ठीक अनुसरण करने वाली होती है–प्राकृतिक नियम का ठीक पालन करने वाली होती है। यह प्रभु के विधान रूप पथ का ठीक अनुसरण करती है।

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।

ज्योतिर्वसाना—यह ज्योति को अपने में बसाना चाहता है। ज्योति इस को अपने में बसाना चाहती है। यह सांसारिकों को अपने में बसाना

चाहता है ।

ऐसे ही "उच्छन्नुषस:" ये उषाओं के समान ध्यानी जन ऋतु के, प्रकृति के नियमों का ठीक अनुसरण करते, प्रभु के बनाए हुए विधान का ठीक अनुसरण करते हैं।

प्रजानतीव न दिशो मिनाति । (१।१२४।३)

जानती इव दिश: न प्रमिनाति–उषा जैसे अपनी दिशाओं को जानती हुई उस का व्यतिक्रम नहीं करती। ऐसे उषा रूप ध्यानी जो अपनी दिशा चाह की भली भांति जानते हुए उस दिशा का उस पथ का उस मर्यादा का कभी व्यतिक्रम नहीं करता है, वह आनन्द को प्राप्त करता है ।

अमिनती दैव्यानि व्रतानि । (१।१२४।२)

यह उषा दैवी व्रतों, दैवी आदेशों को, दैवी नियमों को, दैवी व्यवस्थाओं का हिंसन नहीं करती। अत: साधक, उपासक को भी अपने नियमों एवं व्रतों का उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिए। इस प्रकार कर्तव्यों का पालन करते हुए निरन्तर साधना के पथ पर चलते रहने से ही आनन्द की अनुभूति स्वत: होने लगेगी ।



जहाँ चाह वहाँ राह

न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥

(गीता ६।४०)

कल्याणमार्ग का पथिक कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। व्यक्ति जिसे महत्त्वपूर्ण समझता है, उस के लिए वह समय निकाल ही लेता है। जहाँ चाह, वहाँ राह !

तटस्थ साक्षी द्रष्टा बनकर अपने भीतर की सब विचार प्रक्रिया को देखो, न तुम उस प्रक्रिया से अपने को प्रभावित होने दो, और न उस प्रक्रिया को तुम प्रभावित करो, इस से स्थिरवृत्ति बन जायेगी ।

अपने भोजन और निद्रा को व्यवस्थित करो, सन्तुलित जीवन बनाओ।

श्री स्वामी नारायण हरि जी चाँदनी चौक दिल्ली में लाला हरप्रसाद अग्रवाल के यहाँ ठहरे हुए थे। एक शनिवार को दोपहर बाद मैं उन से मिलने गया ।

उन के सम्मुख नीचे दरी पर कोई २०-२५ व्यक्ति बैठे हुए थे। वे अपने तख्त पर बैठे थे। मैं भी एक कोने में बैठ गया कोई डेढ़ घण्टे के करीब बीत गया, परन्तु कोई भी नहीं बोला। तब वे नमस्कार करके एक-एक कर जाने लगे। मैं भी नमस्कार करके चला आया ।

योग में शुद्ध जीवन, एकाग्रता और ध्यान पर बल देना चाहिये ।

मनुष्य जैसे संगति करता है और जैसी पुस्तकें पढ़ता है, वैसा ही वह बनने लगता है।

याद रखो, यदि तुमने काँटे बोए हैं तो तुम्हें फूलों की प्राप्ति नहीं होगी- फिर चाहे तुम इस के लिए प्रभु से कितनी ही प्रार्थना क्यों न करो।

ये सिद्धियों की विद्या भी बड़ी रोचक और मनमोहक है, परन्तु यह सत्य वस्तु नहीं है । ये वे झरने नहीं हैं जहाँ से अध्यात्म का जल झरने लगेगा ।

बिना पूर्ण हृदय-शुद्धि के आत्मज्ञान एक कोरी कल्पना है—निरर्थक बकवाद है ।

जीवन प्रकृति की देन है, परन्तु (सम्यक्) जीवन ज्ञान की देन है ।

मनुष्य में सुख की लालसा स्वाभाविक और सदा से है। इस की

प्राप्ति के लिए वह जीवन भर कभी इस विषय का तो कभी उस विषय का द्वार खटखटाता है, परन्तु खेद-दुःख के सिवाय उस के पल्ले कुछ और पड़ता ही नहीं है।

क्या भगवान् श्रीकृष्ण ने यह कहा नहीं है कि-"हे कुन्ती पुत्र ! ये इन्द्रियां बहुत प्रयत्नशील हैं और प्रयत्नरत बुद्धिमान् (जो शास्त्रों का विद्वान् है और प्रयत्नशील रहता है) के मन को भी ज़बरदस्ती घसीट कर ले जाती हैं। (गीता २।६०)

इस बात को कभी न भूलो कि प्रभुओं का प्रभु साक्षी चैतन्य के रूप में तुम्हारे हृदय में विराजमान है। उस के प्रति जागृति ही साधना है। **जीवन में छोटे से छोटे शुभ कर्म भी व्यर्थ नहीं जाते।** जो अपनी आवश्यकताओं को मर्यादा में रखता है, वह कभी भी धन का दास नहीं बनता।

योग वह युक्ति है जिस की मदद से साधक शान्त बैठकर अपने भीतर उठ रही वृत्तियों से अपने-आपको अलग करता है।

ऐसे साधक महापुरुष गुमनाम रहना पसन्द करते हैं और उन्हें गुप्त जीवन प्रिय होता है। तथापि वे सच्चे साधकों की खोज में रहते हैं और कभी भी उन की सहायता करने से नहीं चूकते।

यह संसार हमें रोटी, कपड़ा, मकान और दुःख युक्त थोड़े से सुख के सिवा और कुछ नहीं देता है, परन्तु ज्ञान इन सर्वाधिक दुःखों के कारण का ही निराकरण कर देता है। यह अध्यात्म किसी पवित्र शब्द गुप्त मन्त्र को दोहराना नहीं है, न यह किसी नाद का श्रवण है, और अपने इर्द-गिर्द कोई विचारों का घेरा खड़ा कर लेना भी नहीं है। यह प्रभु का पावनकारी विचार व मूर्ति उपासना भी नहीं है। ये सब आत्मसम्मोहन हैं। इस के लिए तो किसी नशीली गोली का प्रयोग भी किया जा सकता है।

आध्यात्मिक व्यक्ति अपने मन की सभी टेढ़ी-मेढ़ी चालों, लालसाओं, क्रोध-लोभ आदि के प्रति सदैव जागृत रहता है। अध्यात्म न तो उपलब्धि है और न ही यह कोई अनुभूति है। यह तो मात्र जागृति है। यह चेतना के प्रचण्ड प्रकाश को अपने मन की ओर मोड़ना है और इस की अच्छी-बुरी कामनाओं की ओर जाग उठना है।

मन को जबरदस्ती चुप नहीं कराना है या इसे किसी वस्तु पर फिर चाहे वह कितनी ही पवित्र क्यों न हो, बल पूर्वक एकाग्र नहीं करना है। इस को तो पहले आत्मशिक्षण तथा विषय, व्यक्ति, स्थान, पद की निरर्थकता

के ज्ञान द्वारा राग द्वेष से मुक्त करना होगा और तदनन्तर ध्यान द्वारा संकल्प-विकल्प से आत्मा के पार्थक्य की अनुभूति करनी होगी।

नारायण हरि को अब बाहर यात्रा पर जाना अच्छा नहीं लगता था। उन का मन अन्तर्मुखी होने लगा और यात्रा उन्हें साधना में बाधा प्रतीत होने लगी ।

जैसा खाये अन्न वैसा बने मन ।

अपने ही शुभकर्म हमारे सच्चे रक्षक हैं ।

जैसा तुम बोओगे वैसा काटोगे ।

याद रखो, व्यक्ति जिसे महत्त्वपूर्ण समझता है, उस के लिए समय निकाल ही लेता है। जहां चाह वहां राह।

यदि तुम साहसपूर्वक न केवल बुरे विचारों का, बल्कि ईश्वर और आनन्द के विचारों समेत सभी विचारों का त्याग कर सको तो तुम आत्मा के, जो कि वास्तव में तुम हो, साक्षात्कार के अधिकारी हो जाओगे। ब्रह्म का विचार ब्रह्म नहीं है ! आनन्द का अनुभव करना आनन्द हो जाना नहीं है !

निरोध-अवस्था में तुम्हें कुछ नहीं सोचना है, कुछ नहीं करना है और नहीं कुछ न सोचने का प्रयत्न ही करना है, तुम्हें वहां मात्र उपस्थित रहना है। बस इतना ही तुम्हें करना है ।

निद्रा—आत्मा के प्रति हमारी अजागरूकता है। अतः अपने भीतर के शत्रुओं के प्रति नित्य जागरूक रहो ।

साधक में अत्यावश्यक गुण यह है कि वह इस परम पावन तीर्थों के तीर्थ आत्मा के प्रति नित्य जागरूक रहे । आत्मा का श्रवण, आत्मा का ही अध्ययन, आत्मा की ही चर्चा, आत्मा का ही चिन्तन, आत्मा के ही पथिकों का संग करो और जागृत अवस्था में "मैं आत्मा हूँ" शरीर, मन, चक्षु आदि नहीं—यह जागृति है ।

कल्पना करो। तुम ट्रेन में हो, एक स्टेशन आता है वहां थोड़ी देर ट्रेन रुकती है और चल पड़ती है। एक और स्टेशन आता है, वहां भी ट्रेन थोड़ी देर रुकती है और चल पड़ती है, वैसे ही यह जीवन-यात्रा है। जीवन होता है-यह स्टेशन का आना है। बचपन आता है, यह दूसरे स्टेशन का आना है, फिर किशोरावस्था-युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था आती हैं-ये सभी स्टेशन हैं । तब मृत्यु का स्टेशन आता है, यहां ट्रेन कुछ अधिक देर तक रुकती है और पुनः चल पड़ती है। इस

प्रकार गन्तव्य की ओर की तुम्हारी यात्रा निरन्तर चलती रहती है।

स्टेशन आते हैं और पीछे छूटते जाते हैं। इस प्रकार स्टेशन आते जाते रहते हैं, परन्तु 'मैं' यात्री सदैव ज्यों का त्यों बना रहता है।

साधना के लिए एकान्त बड़ा जरूरी है ।

विनम्रता तभी आती है जब तुम्हें यह पता चलता है कि वह कितना कम है। जिसे तुम जानते हो और वह कितना ज्यादा है, जिसे कि तुम नहीं जानते हो। विनम्रता ज्ञान की छाया है, अहंकार अज्ञान की प्रतिक्रिया है।

एक दिन एक बाल विधवा स्वामी जी के पास आई और पूछा कि मेरे पति को तीस वर्ष देहान्त हुए हो गये। उस समय मैं चार वर्ष की थी। तब से आज तक मेरी कभी कोई कुशल भी नहीं पूछता है। आज कोई उधर से संदेशा लाया कि मेरे छोटे देवर की शादी में जाने का निमन्त्रण मुझे है । मुझे जाना चाहिए या नहीं? स्वामी जी ने कहा यथेच्छ करो।

"परन्तु, महाराज जी, मेरा मन क्रोध से भर गया क्योंकि वे इतने वर्षों तक मुझे भूले रहे- और ईर्ष्या भी है क्योंकि अब वह अपने बच्चों की इतनी छोटी आयु में शादी क्यों नहीं करते? क्या वह बरबादी मेरे भाग्य में ही थी? महाराज जी, अपनी मनोदशा देखकर मुझे आप से यह पूछने की उत्कण्ठा हो रही है कि क्या आप ऐसी तुच्छ भावनाओं से मुक्त हो गये हैं ?"

मैंने स्पष्ट देखा कि उन की मुख-मुद्रा थोड़ी गम्भीर हो गयी, यद्यपि वह पहले की तरह ही मुस्कुराते रहे। उन्होंने उत्तर दिया-"सामान्यतः अब मेरा मन ऐसे उद्वेगों का शिकार नहीं होता, किन्तु भविष्य में भी मैं इन से बच पाऊँगा, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता ?"

"मैं साधु हूँ ।" सामान्यतया सभी लोग बड़े सम्मान पूर्वक मेरा अभिवादन करते हैं और कुछ तो मेरे चरण भी छूते हैं। लेकिन कल्पना करो, कल जब तुम आओ तो तुम मेरे पास एक और साधु को खड़ा देखो। मेरी बजाय पहले तुम उस के चरण छूओ और कुशलक्षेम पूछो- और तब सहज भाव से मेरी ओर भी मुड़ो और मुझे मात्र हाथ जोड़कर नमस्कार कर दो। तब मैं तुम्हें बता सकूंगा कि मैं क्रोध और ईर्ष्या का त्याग कर पाया हूँ कि नहीं। तीस वर्ष तक तुम्हारे मन में उन के प्रति क्रोध व ईर्ष्या का भाव नहीं आया था, परन्तु आज तुम्हें पता चला है कि वह निश्चित ही तुम में मौजूद थे। प्रकृति के हमें अपने गहनतम संस्कारों से परिचित

कराने के अपने ही रहस्यमय ढंग हैं। यही प्रभु की कृपा है।

साधक को अन्तिम क्षण तक जागरूक रहने की आवश्यकता है।

कोई मनुष्य तैराकी पर एक ग्रन्थ पढ़ता है। वह पूरी तरह से उसे ग्रहण करता है। तैराकी सीखने के इच्छुक विद्यार्थियों के समक्ष भाषण भी करता है। वह 'तैराकी' पर शोध भी करके Ph-D. उपाधि भी प्राप्त कर लेता है, परन्तु स्वयं वह कभी नदी में तैरता नहीं है। यदि ऐसे व्यक्ति को तैरने को तालाब के गहरे जल में धक्का दे दिया जाये तो तैराकी सम्बन्धी उस का सम्पूर्ण ज्ञान, उस पर उस के सफल भाषण और उस की डॉक्ट्रेट की उपाधि आदि उस के किसी काम नहीं आयेगी। बिल्कुल वही स्थिति धार्मिक लोगों की है। अर्जुन भी बहुत पण्डित था । उस ने भी खूब शास्त्र पढ़े थे, किन्तु वे उस के अनुभव में नहीं उतरे थे। युद्धक्षेत्र ने उस के उस अज्ञान को उस के समक्ष प्रकट कर दिया जिसे कि वह अब तक तथाकथित ज्ञान से ढके हुए था ।

जब तक कि तुम अपने भीतर के आनन्द धन प्रभु को नहीं अनुभव कर लेते, परिस्थितियों का थोड़ा सा धक्का या भाग्य के प्रतिकूल तेवर तुम्हें विचलित कर देंगे और तब तुम्हारा सारा का सारा ज्ञान और किसी महापुरुष का शिष्यत्व धरा का धरा रह जायेगा ।

आत्मानुभव में न तो कोई दूसरा हमें प्रमाण–पत्र दे सकता है और न इस का कोई लाभ ही है। क्या किसी दूसरे के लिए यह कह पाना सम्भव है कि तुम्हारी भूख मिट गयी है कि नहीं ?

प्रकृति में आत्मा की भ्रान्ति होने पर अहङ्कार की उत्पत्ति हो जाती है। जब तक अहङ्कार कायम है, तब तक बन्धन भी रहेगा, अहङ्कार वस्तुतः आत्मविस्मृति ही है ।

देखो मेरे बच्चे ! आज तक कोई भी किसी को उस की कमजोरियों में से उभार नहीं पाया है। प्रत्येक को यह कार्य स्वयं ही करना पड़ा है। यदि तुम बीमार हो तो तुम्हें स्वयं ही औषधि लेनी होगी, मेरे औषधि सेवन से तुम्हारी सहायता नहीं होगी।

आज तक किसी ने भी किसी की सहायता नहीं की है । जो उठा है, अपने प्रयत्नों से उठा है ।

सब को अपना उद्धार स्वयं ही करना होगा ।

हर एक अपने उत्थान और पतन के लिए स्वयं ही जिम्मेदार है ।

(विवेकचूडामणि ५१में)

मृत पिता को ऋणमुक्त करने में पुत्र अधिक सहायक हो सकते हैं, परन्तु मोह बन्धन से मुक्ति में सिवाय अपने और कोई सहायक नहीं हो सकता।

अच्छा बनने का अर्थ शान्त बनना और कृत्यता का अनुभव करना है।

हमारे सुख-दुःख का आधार हमारे कर्म हैं, अन्धविश्वास नहीं। आध्यात्मिक अभियान लौकिक अभियान से कहीं अधिक घातक सिद्ध हो सकता है।

महात्मा बुद्ध के पास सुपठित युवक आया और बोला—"कृपया मुझे उपदेश कीजिए कि मैं लोगों के कल्याण के लिए क्या कर सकता हूँ? भगवान् बुद्ध बोले—"पहले तुम अपना कल्याण करो।"

वह बोला—"मुझे अपनी चिन्ता नहीं, औरों की है। इस काम में मैं अपनी जान की बाजी भी लगा देने को तैयार हूँ।"

उस के मुख पर से अपनी दृष्टि हटाते हुए अपने शिष्यों से भगवान् बुद्ध बोले—कि भिक्षुओ! क्या तुम अपने बुझे हुए दीप से दूसरों के दीप जला सकते हो? यह व्यक्ति कुछ ऐसा ही करने का प्रयत्न कर रहा है।

थोड़ी देर बाद उस युवक ने आग्रह किया उत्तर के लिए। स्वामी जी बोले—"क्या तुम ने भैंस देखी है? चारा खाने के बाद वह बैठकर जुगाली करती है।"

याद रखो—वैराग्य के बिना एकाग्रता घातक हो सकती है।

वैराग्य और अभ्यास किसी साधक पक्षी के दो पंख हैं एक पंख भी कट जाए तो फिर साधक रूपी पक्षी उड़ नहीं सकता।

कोई भी झूठ छोड़े बिना सत्य-आत्मानुभव की आशा नहीं कर सकता। योगी को इस दोहरे जीवन को समाप्त करना होगा जो कि एक जीवन वह जो रसोई, स्टोर, बाथरूम व बैडरूम में जीता है और दूसरा वह जो ड्राइंग रूम में हर आगत के सम्मुख प्रकट करता है।

हम सब के भीतर हमारी वास्तविक, नग्न आदतों का एक प्रवाह चलता रहता है। यह नरक की प्रचण्ड अग्नि के समान है। इस के समग्र दर्शन के बिना, इस के सम्यक् ज्ञान के बिना हम संयम के विषय में कितनी भी बढ़ चढ़ कर बातें करें हमारा कुछ बनने वाला नहीं।

जब हम इस दुःख रूपी नरक को जैसा कि वह है यदि देख पायेंगे तो फिर हम इस में से ऐसे निकलने की कोशिश करेंगे जैसे कि कोई

जलते हुए घर में से कूदकर बाहर आता है।

याद रखो– **"सत्य की ही सदा जीत होती है असत्य की नहीं। दिव्य लोक की ओर के मार्ग का निर्माण सत्य से ही हुआ है जिसे कामनाओं से मुक्त ऋषि जन ही प्राप्त कर सकते हैं जो सत्य परम-निधान है।"** (मुण्डक ३।१।६)

एक सज्जन का एक ही पुत्र था जो आवारा था और पिता के नाम पर कलंक था। उन्होंने उसे त्याग दिया और पिछले कुछ पन्द्रह वर्षों से उन्होंने उस की शक्ल भी नहीं देखी थी। दैववश वह जवान अचानक बीमार पड़ा और मर गया। जब उस पिता ने यह समाचार सुना तो वह उसे सहन नहीं कर सका। उसे लगा कि जैसे उस का सारा संसार ही उस से छिन गया हो। उस ने इस में अपने मन को लगा लिया और पुत्र की मृत्यु के छः मास के भीतर–भीतर उस की मृत्यु हो गयी। क्यों ? यद्यपि वह कहा करते थे कि उन्होंने उसे हृदय से निकाल दिया है, परन्तु फिर भी अच्छा या बुरा मेरा पुत्र ही तो था। मानव हृदय पर **"मैं"** और **"मेरा"** का अपना ही एक विचित्र प्रभाव है।

आसक्ति के बिना कर्म करने से असम्भव है कि किसी व्यक्ति अथवा वस्तु से तादात्म्य का अनुभव करना– अर्थात् किसी के साथ **"मेरा"** का सम्बन्ध स्थापित न करना। तब सम्पूर्ण जीवन ही **"यज्ञ"** बन जाता है। तब तुम कर्म करते हो, क्योंकि तुम कर्म करने की शक्ति से युक्त हो और बात यहीं समाप्त हो जाती है। झगड़ा तो 'मेरे' के साथ तादात्म्य से ही शुरू होता है—मेरा मन्दिर, मेरा गिरजा, मेरा मस्जिद, मेरा गुरुद्वारा, मेरा धर्म, मेरा पैगम्बर, मेरा देश आदि।

आजकल हम दूसरों की टिप्पणियों से अपने आप को जांचते हैं। हम कभी भी अपने भीतर नहीं झांकते और जैसे हम हैं वैसा ही अपने आप को देखने का प्रयत्न नहीं करते।

सारा संसार चाहे हमारे विषय में कुछ भी कहता रहे, हमें जानना चाहिए कि हम अपने भीतर वास्तव में क्या हैं ? यही हमारे लिए काफी है। आत्मा के प्रति जागृति ही सम्यक् साधना की कुञ्जी है।

क्रोध मनुष्य की कामना में बाधा आने पर ही उठता है। यही मूल कारण है क्रोध का।

किसी नाटक के लिए ऐक्टरों का पर्याप्त समय तक पूर्वाभ्यास करना पड़ता है। वास्तव में हम सारा जीवन पूर्वाभ्यास ही करते रहते हैं।

जब हम घर में लेट हो जाते हैं तो पूर्वाभ्यास करने लगते हैं कि हमें पत्नी को क्या बताना है, पत्नी पूर्वाभ्यास करती है कि वह पति के आने पर उस की बातों को कैसे काटेगी ।

भगवान् बुद्ध आनन्द के साथ एक ग्राम से दूसरे ग्राम जा रहे थे। रास्ते में कोई उन्हें गालियां देने लगा। वे चुपचाप चलते गए, उन्होंने उस की ओर देखा तक नहीं, तथापि आनन्द बहुत उद्विग्न हो उठा । बुद्ध ने उस के चेहरे पर क्रोध के भाव देखे और कुछ देर बाद उस से पूछा— "आनन्द तुम्हें क्या हुआ ?"

आनन्द बोला—"भगवन्! वह कैसा व्यक्ति था । हमने तो उसे कुछ भी नहीं कहा था, तब उस ने हमें गन्दी-गन्दी गालियां क्यों दीं ?"

भगवान् मुस्कुराए और उन्होंने अपना रूमाल निकाला जिस से कि अभी-अभी उन्होंने अपना नाक साफ किया था और उसे आनन्द को पेश किया ।

आनन्द यह कहते हुए पीछे हट गया—"भगवन् ! आप यह गन्दा रूमाल मुझे क्यों दे रहे हैं ? मैं इसे नहीं लूंगा ।"

भगवान् बुद्ध हंसे और बोले—"उस व्यक्ति ने हमें बहुत गन्दी-गन्दी गालियां दीं, मैंने उन में से एक भी नहीं ली है, जैसे कि तुमने यह रूमाल नहीं लिया है, किन्तु लगता है कि तुम ने उन गालियों को ले लिया है, क्यों ?"

यदि हम इन सुझावों को जीवन में धारण कर सकें तो हमारा जीवन कितना शान्त और आनन्दित हो सकता है ।

जब कोई प्रशंसा करे अथवा निन्दा करे या गाली दे, यदि तुम्हारा ध्यान दूसरे व्यक्ति की ओर जाने की बजाय भीतर ही मुड़ने लगे और तुम भावनाओं को ऊपर उठता हुआ देख सको और वह तुम्हारी मानसिक दृष्टि के सामने से विलीन होने लगे तो जानो कि प्रभु-पथ पर तुम्हारी यात्रा प्रारम्भ हो गयी है ।

जब तक बाह्य घटनाएं और लोग तुम्हारा सन्तुलन बनाते और बिगाड़ते रहते हैं, तब तक तुम्हें समझना चाहिए कि अभी तुम आनन्द लोक में प्रवेश के अधिकारी नहीं बने हो। जब लोग तुम पर फूल बरसायें अथवा तुम पर गालियों की बौछार करें, यदि तुम तब भी प्रकृति के इस खेल के साक्षी बने रह सको तो तुम समझ लो कि तुम अन्तः मन की ओर भी यात्रा के अधिकारी बन गये हो ।

एक बार एक बौद्ध भिक्षु को किसी नर्तकी ने उसके साथ चातुर्मास बिताने का निमन्त्रण दिया। वह बोला—"मैं इस विषय में भगवान् बुद्ध से आज्ञा प्राप्त करूँगा।" "क्यों ? वह क्रोध में बोली।"

"क्योंकि यह हमारे संघ का नियम है। वैसे मैं तैयार हूँ।"

वह भिक्षु तब भगवान् बुद्ध के पास गया और भी बहुत से भिक्षु वहां बैठे थे। वह अत्यन्त सरल हृदय भिक्षु दूसरे भिक्षुओं के सामने ही भगवान् बुद्ध से बोला—"भगवन्, आज एक बहुत विचित्र घटना घटी है। उस नर्तकी ने मुझे अपने घर पर चातुर्मास बिताने का निमन्त्रण दिया है। क्या मुझे आज्ञा है ?"

"अवश्य !" भगवान् बुद्ध बोले।

वहां बैठे हुए दूसरे भिक्षु चकित रह गए। वह उस नर्तकी को जानते थे। वह अद्वितीय सुन्दरी थी। उन्होंने इस पर आपत्ति की। उन्होंने बुद्ध की सहमति पर भी शंका की।

भगवान् बुद्ध बोले—"यदि वह नर्तकी मेरे भिक्षु से भयभीत नहीं है, तो मेरे भिक्षु को उस से क्यों भयभीत होना चाहिए? वह उस नर्तकी के पास जाकर रहे। मैं निश्चय ही इस की आज्ञा देता हूँ।"

वे उन्हें समझ नहीं पाए।

भिक्षु चला गया और नर्तकी के साथ रहने लगा। वह कभी उस के सम्मुख नाचती, कभी गाती, कभी वह उस के सम्मुख वस्त्र बदलती, जिस कमरे में वह सोता था, उसी में वह भी सोती, वह उस के साथ ही खाना खाती और कभी-कभी प्रेमपूर्ण मुद्रा में उस की आंखों में निहारते हुए अपने हाथों से उस के मुख में ग्रास डालती। एक दिन वह फूट पड़ी और बोली—"यदि तुम मुझे पसन्द नहीं करते तो कम से कम घृणा का ही प्रदर्शन करो। मैं तुम्हारे साथ और तुम्हारी उपस्थिति में जो कुछ करती हूँ, उस के लिए तुम मुझे गाली क्यों नहीं देते? तुम जैसे पहले दिन आए थे वैसे ही क्यों बने हुए हो?"

भिक्षु बोला—"तुम जो मुझे खाने को देती हो, मैं वही खाता हूँ, तुम मुझे जहां बैठने को व लेटने को कहती हो, मैं वहीं बैठता और लेटता हूँ, तुम मुझे जो कुछ दिखाती हो, मैं वही देखता हूँ, तुम जहां सोने को कहती हो, मैं वहीं सोता हूँ—भला इस के सिवा मैं और क्या करूँ ? क्या यह काफी नहीं है ?"

चातुर्मास बीत गया। भिक्षु भगवान् बुद्ध के पास लौट चला और

आश्चर्य की बात यह है कि उसके पीछे-पीछे एक भिक्षुणी चली आ रही थी। सब चकित थे। भगवान् बुद्ध ने उस से पूछा—"तुम ने यह भिक्षुणी का बाना क्यों धारण कर रखा है ?"

"भगवन् ! जीवन में मैं पहली बार पराजित हुई हूँ, वह जीत गया है। मैं भी उसी शान्ति का उपयोग करना चाहती हूँ, जिस का वह कर रहा है। प्रेम और क्रोध कुछ भी तो उसे विचलित नहीं करता।"

भगवान् बुद्ध बोले—"हां, तुम दोनों में से एक को तो जीतना ही था। यहां मेरे भिक्षु की जीत हुई है। तुम जाकर भिक्षुणियों के साथ रहो और उस शान्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करो जो तुम ने उस भिक्षु में देखी है। सभी भिक्षु इस चमत्कार को देखकर चकित रह गए। सच्चा गुरु कौन है? वह नहीं जो तुम्हारे पूरे ध्यान को अपनी ओर मोड़ ले और तुम आश्चर्य करने लगो कि वह कितना महान् है, किन्तु सच्चा गुरु वह है जो मानो तुम्हारी गर्दन पकड़कर उसे अपनी ही ओर मोड़ दे।"

जैसे आंख बाह्य संसार की द्रष्टा है, वैसे ही मन आंख का द्रष्टा है। पुनः मैं देखता हूँ कि मैं मनोवृत्तियों का भी द्रष्टा हूँ परन्तु यदि इन मनोवृत्तियों को विलीन कर दिया जाए तो द्रष्टा भी विलीन हो जायेगा क्योंकि द्रष्टा तभी तक द्रष्टा है जब तक कि उस के लिए देखने को कुछ है।

किन्तु तब द्रष्टा समाप्त नहीं हो जाता, जब इस के देखने की क्रिया रुक जाती है। तब वह अपने आप को विश्राम में पाता है। यदि मछली को पकड़ कर जल से बाहर निकाल दिया जाए तो भी जल बना रहता है। जल के बिना किसी जीवित मछली का होना सम्भव नहीं है, परन्तु निश्चय ही मछली के बिना जल रह सकता है और रहता है। इसी तरह 'मेरे' आत्मा के बिना विचार नहीं हो सकते परन्तु विचारों के बिना 'मैं' हो सकता हूँ। तथापि यह तभी सम्भव है, जब यह दृश्य की ओर पूर्णतया विरक्त हो जाए और नेति प्रक्रिया की समझ और सम्यक् प्रयोग द्वारा अपनी ओर मुड़ जाए। तब द्रष्टा और दृश्य शब्द निरर्थक हो जायेंगे। तब कौन किस को और किस के द्वारा जानेगा ?

साधना करते-करते तुम यह अनुभव करोगे कि तुम अपने आप को अब तक मानते चले आ रहे हो वह तुम नहीं हो। सदाचार का अभाव साधक को आत्मा पर अपने ध्यान को केन्द्रित करने से रोकता है। अध्यात्म और सदाचार का अटूट सम्बन्ध है।

जो आत्मा का साक्षात्कार करना चाहता है वह सदाचार की अवहेलना

नहीं कर सकता। सदाचार हृदय-शुद्धि आत्मानुभव का आधारभूत अनिवार्य तत्त्व है।

कोई व्यक्ति आया और उस ने भगवान् बुद्ध पर थूक दिया। उन्होंने उसे कपड़े से पौंछ दिया और बोले—"तुम कुछ और कहना चाहते हो?" वह घबरा गया, क्योंकि शायद इस से पहले कभी किसी ने उस से यह प्रश्न नहीं किया था। भगवान् बुद्ध का इस से क्या आशय था, यह पकड़ न पाया।

भगवान् बुद्ध जैसे महापुरुष कभी प्रतिक्रिया नहीं करते। वे मात्र क्रिया करते हैं।

चकित होकर उस ने बुद्ध से पूछा—"परन्तु आपने कोई प्रतिक्रिया क्यों व्यक्त नहीं की है?"

"क्योंकि मैं तुम्हारा दास नहीं हूँ। मैं तुम्हारी छाया नहीं बनना चाहता। तुम ने मेरे प्रति अपनी अत्यन्त घृणा व्यक्त की है। बस बात यहीं समाप्त हो गई! अतः मैंने तुम से पूछा है कि तुम्हारा अगला प्रश्न क्या है?"

अगले दिन वह फिर आया और उन के चरणों पर अपना सिर रखकर क्षमा मांगने लगा। भगवान् बुद्ध बोले—"कुछ और कहना चाहते हो?" वह पुनः चकित हुआ और चिल्लाकर बोला—"आप किस किस्म के आदमी हो?"

भगवान् बुद्ध मुस्कुराए और बोले—"पुनः मैंने तुम को बिल्कुल सही समझा है। तुम में कोई गहन भावना काम कर रही है। तुम भावों में बोल रहे हो। मैं भी बहुत बार इसी प्रकार के संकेतों में बातें करता हूँ।"

"किन्तु आपने यह क्यों पूछा कि कुछ और कहना चाहते हो? देखो, भाई! कल तुम ने अपना घृणा-प्रदर्शन किया; आज तुम ने अपने प्रेम का प्रदर्शन किया है। मैंने कोई प्रतिक्रिया नहीं की है—क्योंकि मैं "मैं" हूँ, तुम्हारे व्यक्तित्व का विस्तार नहीं हूँ। मैंने कल तुम्हें एक भाव में देखा था, आज एक दूसरे भाव में देख रहा हूँ; किन्तु मैं किसी भाव के अधीन होकर क्रिया या प्रतिक्रिया नहीं करना चाहता। भाव उठते हैं और विलीन होते हैं—वे मुझे बहाकर अपने साथ नहीं ले जा सकते। मैं भावना रूपी नदी के तेज बहाव में बह नहीं रहा हूँ; मैं तो किनारे पर खड़ा हूँ।"

उन का चिन्तन और ध्यान पर बड़ा जोर था।

मैंने पहली बार महसूस किया कि किसी महात्मा का मात्र प्रवचन सुनने और उन से कोई शास्त्र पढ़ने की बजाए उन का सान्निध्य अपने-आप

में एक बड़ा उच्च कोटी का शिक्षण है। वास्तव में यह सर्वश्रेष्ठ प्रभु-कृपा है।

कुछ समय तक किसी ने कुछ भी प्रश्न नहीं किया। स्वामी जी ने आंगन में बाहर बैठे एक वृद्ध पुरुष की ओर देख कर उन्हें कोई भजन गाने को कहा—भजन बहुत मधुर एवं हृदयस्पर्शी था। अभी दो तीन पंक्तियां ही गाई होंगी कि अचानक वे बीच में ही रुक गए।

हवा में मधुर ठण्ड व्याप्त हो रही थी। चहुँ ओर गहन अन्धकार था। हम सब पर मौन छा गया। कुछ क्षणों के लिए कोई भी एक शब्द नहीं बोला। बाद में मानो बहुत ही दूरी से लौटते हुए—वे अपने अचानक चुप हो जाने के लिए क्षमा-याचना करते हुए बोले—"मुझे बहुत खेद है कि मैं भजन के भावों में खो गया था। मैंने कब गाना बन्द किया, मुझे कुछ मालूम नहीं है, किन्तु अब उन गहराइयों से लौटने पर मुझे स्मरण हो आया कि मैं गा रहा था।"

स्वामी जी ने प्रेमपूर्ण परन्तु स्पष्ट प्रशंसा भरे शब्दों में कहा— शास्त्राध्ययन और भजन इत्यादि का प्रयोजन वास्तव में शब्द जिस ओर भावपूर्ण अंगुलि उठा रहे हैं, उस पर मनन करते हुए अपने ध्यान को उस ओर मोड़ देना ही है।

संयम का मात्र प्रदर्शन भोग से भी खराब है। यह कामना को और भी तीव्र करता है।

"बांझ दूसरे के बच्चों से प्रेम तो कर सकती है, परन्तु माँ के हृदय में क्या घटित होता है, इस की अनुभूति नहीं कर सकती।"

सामान्य लोग अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं। हम में से ऊँचा से ऊँचा भी इसी मानसिक रोग से बचा नहीं है। इस शब्द-जाल से बड़ों-बड़ों को जग में उल्लू बना लिया जाता है। ऐसे सूक्ष्म आक्रमण से बचने के लिए असाधारण जागरूकता की जरूरत है।

बच्चे को बड़ा होने के लिए खिलौने का त्याग नहीं करना है, परन्तु ज्यों ही वह बड़ा होता है, खिलौने स्वतः ही उस से छूट जाते हैं। जब तुम अपने भीतर के कामना कर्त्ता को देखने लगते हो तो तुम विकसित हो रहे हो। (त्याग फिर सहज हो जाता है।)

लोग दूसरों के प्रति बहुत सजग रहते हैं, परन्तु अपने मन के प्रति वे प्रायः सोए रहते हैं। साधक वह है जिस ने अपनी बुद्धि को साध लिया है—जो अपनी ओर मुड़ सकती है और तत्काल अच्छाई और बुराई का

निर्णय कर सकती है ।

"यदि तुम बुरे बन सकते हो तो तुम अच्छे भी बन सकते हो । यदि तुम उदास हो सकते हो तो तुम प्रसन्न भी हो सकते हो । अपने मन की दिशा मोड़ दो और तुम देखोगे कि तुम्हारे मन का सम्पूर्ण जपों, व्रतों, पारायण, अखण्ड पाठों का कुछ रहस्य है ।"

धन सिर पर सवार हो जाने वाला नशा है। वह मनुष्य को पशु बना देता है। हमारी पूंजी बैंकों में ही नहीं रहती, हमारे सिरों पर भी वह सवार रहती है। इस के नशे में मनुष्य हमें कीड़े-मकोड़े की तरह दिखने लगते हैं। हम यह सोचकर अपने-आप को मूर्ख बनाते रहते हैं कि धन से कोई भी व्यक्ति व वस्तु खरीदी जा सकती है। अफसोस, उस सम्पूर्ण प्रक्रिया में हम अपने मन की शान्ति का हनन कर देते हैं।

एक व्यक्ति बहुत ऊँचे वृक्ष पर बैठा हुआ है; तुम वृक्ष के नीचे भूमि पर बैठे हो। घुमावदार पहाड़ी सड़क पर से एक खच्चर आ रहा है। तुम उसे नहीं देख रहे हो। अतः जब तुम्हें वृक्ष पर बैठा हुआ व्यक्ति इस विषय में बताता है तो तुम कहते हो कि-'वह नहीं है'। वह तुम्हारे लिए भविष्य है, उस के लिए वर्तमान है। थोड़ी देर बाद वह खच्चर तुम्हें दिखाई देने लगता है। यह अब तुम्हारे लिए वर्तमान है। जब खच्चर आगे बढ़ जाता है और घुमावदार मोड़ से मुड़कर तुम्हारी आंखों से ओझल हो जाता है, यह अब तुम्हारे लिए 'भूत' है। परन्तु वृक्ष पर बैठे हुए व्यक्ति के लिए अभी भी सामने उपस्थित 'वर्तमान' है ।

प्रभु ज्ञान के शिखर पर से देखते हैं। **उन के लिए काल, भूत, वर्तमान और भविष्य में विभक्त नहीं है ।**

आप अभ्यास को केवल एकान्त में बैठकर वृत्ति निरोध वाली अवस्था प्राप्त करना ही मान बैठे हैं जो सरासर गलत है । यह एक अंश जरूर है परन्तु इस से कहीं अधिक अभ्यास का साधन यह है कि समाज के बीच में रहते हुए जो प्रतिकूल या अनुकूल अवस्थाएँ आयें, उन को प्रभु-आश्रय से सहन करने का अभ्यास किया जाय और शुद्ध विचारों द्वारा इस में कल्याण का मार्ग निकाला जाय। दुःख को भी धन्यवाद देना चाहिये क्योंकि यह प्रभु में आस्था को दृढ़ करता है ।

हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, फल हमारे हाथ में नहीं है । जितना शीघ्र हम इस शाश्वत सत्य को ग्रहण कर लें उतना ही यह हमारी साधना और मन की शान्ति में सहायक होगा ।

मंच पर एक ऐक्टर राम का और दूसरा रावण का अभिनय करता है। दोनों क्रोध की मुद्रा में दिखाई देते हैं और अन्त में रावण मारा जाता है। दोनों ग्रीन रूम में चले जाते हैं। दोनों एक साथ नाटक मण्डली में शामिल हुए थे। दोनों पुराने मित्र हैं, दोनों इकट्ठी चाय पीते हैं, हम मात्र मञ्च की ही चर्चा करते हैं। ग्रीन, रूम को भूले रहते हैं। जीवन के ग्रीन रूम में हम सब एक से आत्मा हैं, मित्र हैं। मित्रता और शत्रुता अभिनय है। आइये हम अच्छा से अच्छा अभिनय करें।

प्रभु-प्रेम का **पहला लक्षण** यह होगा कि तुम वह सब करना बन्द कर दोगे जिस से प्रभु अप्रसन्न हों और वह सब करोगे जिस से उन को प्रसन्नता हो। तब न अपनी और न किसी अन्य व्यक्ति की ही परन्तु प्रभु-प्रसन्नता ही तुम्हारा एकमात्र प्रयोजन हो जायेगा।

दूसरा लक्षण यह होगा कि तुम्हें उस पर आश्रित होना और उस की इच्छा को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना आ जायेगा फिर चाहे वह तुम्हारे अनुकूल हो या प्रतिकूल। फिर कोई भी घटना तुम्हें विक्षुब्ध नहीं कर सकेगी। विचलित नहीं कर सकेगी।

तीसरा लक्षण यह होगा कि तुम उस के लिए उस के बच्चों से प्रेम करोगे और यथाशक्ति अपने ज्ञान से मधुर शब्दों से या अपने धन-वैभव से उन की सहायता करोगे।

चौथा लक्षण होगा कि तुम्हारा मन सर्वत्र विशेष कर अपने हृदय में, उस की उपस्थिति के प्रति जागृत होने लगेगा। इस में किसी प्रयत्न विशेष की अपेक्षा नहीं होगी। प्रेम मानो तुम्हें स्वतः ही आगे ही आगे ले जायेगा। ध्यान तुम्हें आप्लावित कर देगा।

पांचवां लक्षण होगा कि तुम उसी से बातचीत करोगे, उसी की चर्चा करोगे, उसी का चिन्तन करोगे, उसी की प्रसन्नता के लिए सब कर्म करोगे, उसी से प्रेम करोगे और सब समय उसी में रहोगे। तब यह संसार तुम्हें मात्र छाया दिखने लगेगा और प्रभु ही वास्तविक तत्त्व प्रतीत होने लगेगा। तब तुम भी मानो धीरे-धीरे विलीन होने लगोगे एकमात्र वही रह जायेगा। (तुम इतने उस में तल्लीन रहोगे कि अपने आप को भी भूल जाओगे।)

वह यह सब कुछ उसी का है मानकर इस का सेवन करता है। वह किसी बाह्य शत्रु पर विजय पाना नहीं चाहता है।

जो व्यक्ति शान्ति का अनुभव कर रहा होता है, उस की उपस्थिति

खिले हुए गुलाब की भाँति इर्द-गिर्द शान्ति ही बिखेरती है ।

अब उस के लिए न कुछ प्राप्तव्य है, न ही कुछ त्यक्तव्य है; न उसे किसी से घृणा है और न ही प्रेम। निन्दा और स्तुति अब उस के लिए समान है। अनुभव घटित होते हैं और उस के शरीर, मन, बुद्धि पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं, परन्तु उस के स्वरूप को छूते नहीं हैं। वह उस के लिए उपलब्ध ही नहीं होता है। वह प्रभु में रहता है प्रभु उस में रहता है । वह सदैव कर्मों में रत रहता है क्योंकि यही उस के प्रति उस की पूजा है ।

यह सहज में उपलब्ध नहीं हो जाता है। प्रभु-प्रेम की देन है और यह केवल उन्हीं को उपलब्ध होता है जो निष्पाप, निष्कलंक शुद्ध और पवित्र जीवन जीते हैं तथा जिन के हृदय बालकों की भाँति निर्दोष और सरल होते हैं ।

प्रभुप्रेमी सब से और सब जगह से सीखता है ।

भक्त संसार में किसी का बुरा नहीं करता। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष में उस के जीवन से शुभ ही की अभिव्यक्ति होती है ।

भक्त सभी दुःखों को प्रभु से प्राप्त और उस की अदृश्य कृपा के रूप में ग्रहण करता है ।

"उसे जन्म और मृत्यु कमरे में प्रविष्ट होने और बाहर निकलने ही की भाँति लगते हैं।" वह कामनाओं से मुक्त हों जाता है। वह अपने कर्तव्य का इस ढंग से पालन करता है जैसे कि वह उस के प्रियतम का आदेश हो। उसका व्यवहार शुद्ध होता है । उस का हृदय प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सम बना रहता है। उस का एकमात्र लक्ष्य सृष्टि के माध्यम से प्रभु की सेवा ही होता है। वह किसी को धोखा नहीं देता, वचन भंग नहीं करता और किन्हीं अनुचित तरीकों को नहीं अपनाता। उस का हृदय अपराध भावना से मुक्त होता है। उसे न किसी से अपेक्षा होती है और न आशा ही, मान अपमान उस के लिए निरर्थक शब्द मात्र से रह जाते हैं ।

संसारी व्यक्ति जो घर लौटने को उत्सुक है, उसे जो कोई भी वाहन सहज मिल जाता है उसी से वह घर लौट आता है। वह मार्ग में उपलब्ध होने वाली सुख सुविधाओं की ओर विशेष ध्यान नहीं देता है। बिल्कुल यही स्थिति एक भक्त की होती है वह अपने शाश्वत घर की ओर लौटने को है ।

एक दिन साढ़े तीन बजे हम बैठे हुए थे। महाराज जी को अकेला

पाकर मैंने पूछा—"महाराज जी, हम जानते हुए भी कि संसार दुःखों से भरा हुआ है, तब भी हमारा मन इस से विमुख क्यों नहीं होता ?"

ज्यों ही उन्होंने उत्तर देना प्रारम्भ किया, मैंने एक युवक को जल्दी-जल्दी आश्रम की सीढ़ियों से नीचे उतरते हुए देखा। वह उन के चरण स्पर्श करने के बाद मेरे पास नीचे बैठ गया। उस के चेहरे से निराशा स्पष्ट झलक रही थीं। वह उन से कुछ पूछना चाहता था। नियमानुसार मैं वहां से उठकर चला गया, मैं कोई एक घण्टे बाद लौटा। मैं यह जानने को उत्सुक था कि वह युवक कौन था और किसलिए वहां आया था।

पूछने पर स्वामी जी बोले—"वह और उस का छोटा भाई कोई पांच वर्ष पहले यहां आए थे। उन का नैनीताल में रेस्टोरेण्ट खोलने का विचार था। उन्होंने खोला भी और वह खूब चला भी। कोई दो सप्ताह पूर्व उस की अपने छोटे भाई से कुछ कहासुनी हो गयी और उस ने आत्महत्या कर ली। अतः वह बड़ा परेशान है।"

"किन्तु महाराज जी, पिछले चार पांच वर्ष से उसे यहां की याद क्यों नहीं आई ?" मैंने पूछा।

"जब तक कि भाग्य चित्त न कर दे और दुःख मनुष्य का कचूमर न निकाल दे।" जब तक कोई प्रियजन मृत्यु को न प्राप्त हो जाए और कोई निकटवर्ती धोखा न दे दे, तब तक यहां आने का किस को ख्याल आता है।

पांच वर्ष उस के खुशी-खुशी बीत गए। तब उसे संसार बहुत आनन्द पूर्ण और सुन्दर दिखाई दे रहा था। अब उस के सारे स्वप्न छिन्न-भिन्न हो गए हैं। वह अपने आप को अपराधी अनुभव कर रहा है। वह मन की शान्ति की तलाश में है। वह समझता है कि प्रभु नल की तरह है कि जब चाहो उसे खोल लो और उस में से उन की कृपा का जल बहने लगे।

चर्चा अभ्यास और वैराग्य पर चल पड़ी। मैं जानना चाहता था कि इन दोनों में से कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन का कहना था कि ये दोनों के दोनों पंखों की भांति समानरूप में महत्त्वपूर्ण हैं। इस विषय में उन्होंने निम्न घटना सुनाई।

गुरुदेव मुलतान में ठहरे हुए थे। एक अधेड़ आयु की महिला आई और वह अपने ध्यानकाल के अनुभव सुनाने लगी। वह जानना चाहती थी कि क्या वह अध्यात्म के शिखर तक पहुंच गई है या नहीं ? गुरुदेव मुस्कुराए और बोले कि उस की बहुत अच्छी अवस्था है, परन्तु उसे

अपने दैनिक जीवन को और अधिक पवित्र बनाना चाहिए, किन्तु उस का आग्रह था कि वे उसे बतायें कि क्या उसे निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हो गई है कि नहीं ?

अन्ततः वे बोले—मैं जानता हूँ कि तुम विधवा हो और तुम्हारा एक ही लड़का है, जिस की २० वर्ष आयु है। कल्पना करो कि जब तुम घर लौटो तो तुम उसे मरा हुआ पाओ और फिर भी तुम्हारा मन जरा भी विचलित न हो और जिस शान्ति को तुम अभी धारण किये हुए हो उसे बनाए रख सको तो समझ लेना कि तुम पहुंच गई हो। तब मेरे प्रमाण–पत्र की जरूरत नहीं है ।

जल्दी से उस ने अपना हाथ स्वामी जी के मुंह पर रख दिया और बोली—'प्रभु रक्षा करें' आप ऐसे अशुभ वचन क्यों बोलते हैं।

गहरी नींद में हम इस राग को लेकर सोते हैं और पुनः इसी संस्कार को साथ लिये हुए ही जागते हैं जैसे कि डॉक्टर ही सोता है और डॉक्टर ही जागता है।

वह महात्मा जिस ने सौन्दर्य को बाहर से ही नहीं देखा है बल्कि उस की कुरूपता को भीतर से देखा है, वह अपने मन को वस्तु आदि की ओर जाने देकर उसे पीछे अपनी आत्मा की ओर मोड़ देता है । न कि स्थान नाम को बदल ले या एक प्रकार के जीवन को मोड़ कर दूसरे प्रकार के जीवन को धारण कर ले ।

क्या तुम्हारा ध्यान कभी इस ओर गया है कि हमारा बोलना मजाक करना, चलना, देखना, बैठना, वस्त्रों का डिजाइन, हमारे हाव–भाव, वस्तुओं का चुनाव, हमारे ड्राइंग रूम हमारे मनोरञ्जन आदि ये सब हमारे मन का बहिर्मुखी प्रवाह ही हैं ।

जितना अभ्यास तुम राग का कर चुके हो अब उतना ही अभ्यास तुम्हें वैराग्य का करना होगा। अभ्यास वैराग्य को दृढ़ करता है ।

राग के कई रूप हैं । कोई धन का त्याग कर देता है, परन्तु स्त्री उसे पकड़ लेती है; कोई कामवासना से ऊपर उठ जाता है, परन्तु नाम की इच्छा उसे पागल बना देती है इत्यादि ।

जब कभी वैराग्य की झलक प्रकट हो, जो प्रायः होती रहती है तो उस अवसर को हाथ से न जाने दो। वही अभ्यास का सही समय है ।

याद रखो ! स्थान, नाम और वस्त्रों में परिवर्तन मनुष्य के हृदय को नहीं बदलता है । विचारों में परिवर्तन और सतत अभ्यास ही मनुष्य के

हृदय को बदलता है ।

एक दिन एक साधु आया जो बहुत ही विद्वान् था, उस ने बहुत सी पुस्तकें लिखीं । उस का धन को न छूना व्रत था। उसने स्वामी जी से योग में मार्ग-दर्शन चाहा तथापि उस को स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से अपने खाने-पीने की व्यवस्था करने को कहा और अपनी रसोई के प्रयोग की भी आज्ञा दी। इस के लिए उस साधु नें अपने एक भक्त को मुझे खाद्य सामग्री के प्रबन्ध के लिए धन देने को कहा। उस ने मुझे पैसे दे दिये। मैं अपनी कुटिया में चला गया ।

दो तीन घण्टे में आश्रम के लिए सामान लाने के लिए मैं स्वामी जी से आज्ञा लेने गया और दूसरे संन्यासी से पूछने को कि उन के लिए क्या लाना है। महाराज जी ने मुझे रोका और उस साधु को पैसे लौटा देने को कहा। मैं घटनाओं के एकदम नया मोड़ लेने पर चकित रह गया। वास्तव में इन दो महापुरुषों के मध्य जो चर्चा होती, उसे सुनने को मैं बड़ा उत्सुक था। मुझे साधु में बड़ी श्रद्धा थी, तथापि आज्ञानुसार मैंने पैसे वापस कर दिये और थोड़ी देर बाद वह वहाँ से चला गया ।

मेरे पूछने पर स्वामी जी ने बताया कि उस दो तीन घण्टों के मध्य हम विविध विषयों पर चर्चा करते रहे और जब उस साधु ने २१ और पुस्तकें लिखने की अपनी तीव्र इच्छा प्रकट की, ताकि उन की कुल संख्या १०१ हो सके तो मैंने उस के बारे में अपनी राय बदल दी ।

कामना ध्यान की शत्रु है–

स्वामी जी बोले–" अत: मैंने पहले उसे अपनी इच्छा को पूर्ण करने को कहा और जब इस से मुक्त हो जाए तब पूर्ण हृदय से मेरे पास योग सीखने आए ।"

कबीर के शब्दों में– **"जो घर वारे आपना, चले हमारे संग ।"**

आत्मविस्मृति ही सब से बड़ा रोग है जिस के हम सब शिकार हैं।

कुछ लोग खुशी से दान देते हैं और वह खुशी ही उन का इनाम है और कुछ ऐसे हैं जो कष्ट पूर्वक दान देते हैं और वह कष्ट ही उन का तप है ।

कुछ ऐसे भी हैं जो बिना कष्ट के देते हैं, उस में उन का प्रयोजन न तो सुख की तलाश और न ही पुण्य-अर्जन ही होता है। वे तो ऐसे देते हैं जैसे कि गुलाब वातावरण में सुगन्ध बिखेरता है । ऐसे लोगों के हाथों से प्रभु देता है और उस की आँखों में से वही इस भूतल पर करुणा की वर्षा

करता है। धन पर कुण्डली मार कर बैठ जाने का अर्थ मृत्यु ही है।

जो कामनाओं से भरे होते हैं, प्रभु उन्हें धन, स्त्री, पुत्र और पद-नाम के खिलौने देकर अपने से दूर रखते हैं।

"यदि तुम दानशील हो और दूसरों की पीड़ा को तुम अपनी पीड़ा समझते हो तो धन तुम्हारे लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। यदि तुम उस का उपयोग ज्यादा भोग भोगने में ही करते हो और गरीब तुम्हें कीड़े-मकौड़े और अधिक धन संग्रह का साधनामात्र दिखते हैं तो तुम इस से अपना और सत्यानाश ही करोगे।"

साईं इतना दीजिये जा में कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ और साधु न भूखा जाय॥" (कबीर)

सत्संग में शब्दों के अतिरिक्त वक्ता और उस के हाव-भावों का भी अपना एक प्रभाव होता है।

सत्संग-भवन में हाथ मुख और पैरों को धोने और अच्छी तरह से पौंछने के नियम का भी कड़ाई से पालन किया जाता था। सत्संग के समय के अतिरिक्त किसी भी स्त्री को बिना किसी को साथ लिये आश्रम में आने की इजाजत नहीं थी। यदि उसे कुछ विशेष पूछना होता था तो उसे अपने पति, पिता व भाई को साथ लाना जरूरी था।

वहाँ हर समय सफाई व्यवस्था और गहन शान्ति रहती थी।

मैंने अभी तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं देखा है जो खाने-पीने के सम्बन्ध में इतना नियमनिष्ठ और नपा तुला हो।

भगवान् बुद्ध के विषय में यह कहा जाता है कि वे प्रतिदिन सैर को जाते हुए निश्चित संख्या में ही पैर उठाते थे, उतनी ही संख्या में अपने हाथ हिलाते थे। एक ही करवट सोते थे और एक निश्चित समय तक ही बिस्तर पर सोते थे। वह भोजन निश्चित समय पर और एक ही मान में-न अधिक और न कम लेते थे।

एक बार आनन्द ने उन की कुटिया में सोने की आज्ञा मांगी, जिस में भगवान् बुद्ध सोते थे। वह सोने के लिए लेट गया किन्तु वास्तव में वह सोया नहीं रात भर बुद्ध को देखता रहा। उस ने देखा कि वे अपनी बायीं करवट दायें बाजू को कोहनी पर रख कर सो गए। ठीक छः घण्टे बाद वे उठे और शौचादि के लिए गए। स्नानादि के बाद वे ध्यान के लिए बैठे। रात को न तो उन्होंने करवट बदली और न खर्राटे ही भरे।

अगली रात आनन्द ने फिर उन्हें इसी प्रकार देखा। सब कुछ वैसे ही

घटित हुआ। आनन्द उन की सब क्रियाओं में नियमितता और एकरूपता देखकर चकित रह गया और उस ने भगवान् बुद्ध से पूछा—"भगवन् दूसरी चीज की नियमितता के बारे में तो बहुत कुछ समझा जा सकता है, परन्तु नींद में इतनी नियमितता कैसे सम्भव है ? आप करवट नहीं बदलते हैं और ठीक निश्चित समय पर उठ बैठते हैं, यह कैसे ?"

भगवान् बुद्ध मुस्कुराए और बोले—"आनन्द, भला शरीर अपने-आप कैसे हिल सकता है जब तक कि मैं इसे हिलने की इजाजत न दूँ?" एक गद्दे की ओर संकेत करते हुए वे बोले—"क्या यह गद्दा यहाँ से वहाँ अपने-आप जा सकता है ? जब तक कि इसे कोई हटाए नहीं, यह जहाँ का तहाँ पड़ा रहेगा, अतः यह बहुत ही स्पष्ट है; मैं शरीर को हिलाता नहीं हूँ, अतः यह जहाँ का तहाँ पड़ा रहता है ।"

सोने से पूर्व मैं शरीर में यह संकल्प डाल देता हूँ कि "इसे ठीक छः घण्टे बाद उठ जाना है। अतः यह निश्चित समय पर उठ जाता है । इस में आश्चर्य क्या है ।"

अंगुलीमाल एक कुख्यात हत्यारा दुष्ट डाकू था। एक दिन बुद्ध को उधर से जाना था। बहुतों के रोकने पर भी वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। जैसे ही वे उस जंगल से गुजरने लगे। उन का अंगुलीमाल से आमना-सामना हुआ। वह उन्हें देखकर अपने कुल्हाड़े की धार तेज करने लगा और चिल्लाया—क्या तुम्हें किसी ने बताया नहीं है कि "मैं अब तक ८८८ व्यक्तियों को मौत के घाट उतार चुका हूँ ?"

भगवान् बुद्ध ने उसे रुक जाने का संकेत किया और जिस पीपल के नीचे वह उन्हें मारने से पहले खड़ा था, उसके दो-तीन पत्ते तोड़ने को कहा। अंगुलीमाल ने कुछ पत्ते तोड़े और वह बुद्ध के समीप आ गया।

क्या तुम पहले की तरह इन पत्तों को पुनः वृक्ष पर लगा सकते हो? "बुद्ध ने पूछा ।"

अंगुलीमाल जोर से हँसा और बोला—"अब मैं जान गया हूँ कि तुम इस जंगल में क्यों आए हो? तुम पागल हो ! क्या तुम यह नहीं जानते कि एक बार तोड़ने पर पत्ते दुबारा वृक्ष पर नहीं लगाए जा सकते ?"

बुद्ध हलके से मुस्कुराए और बोले—"यदि पत्ते एक बार तोड़े जाने पर पुनः वृक्ष पर नहीं लगाए जा सकते तो तुम मनुष्यों को मारने में क्यों लगे हुए हो जबकि तुम्हारे लिए किसी को एक क्षण के लिए भी जीवन-दान दे पाना सम्भव नहीं ।"

और आश्चर्य, अंगुलीमाल ने कुल्हाड़ा फैंक दिया और उन के चरणों में गिर पड़ा। कुछ भिक्षु, जो कुछ दूरी पर छिपकर यह सब कुछ देख रहे थे, चकित रह गए। बुद्ध ने उसे कन्धों से पकड़ कर ऊपर उठाया और बोले–"उठो, प्रिय, उठो ! तुम एकाएक छलांग भर कर लक्ष्य के अभिमुख हो गए हो।"

कुछ दिनों बाद अंगुलीमाल नगर में भिक्षा मांगने गया तो लोगों ने उसे पहचान लिया। वे उसे पत्थर मारने लगे किन्तु वह सन्तुलित बना रहा और अन्ततः लहुलुहान और अधमरा हुआ जमीन पर गिर पड़ा।

बुद्ध भी उधर को सहसा भिक्षार्थ आए। अंगुलीमाल की दशा देखकर उस के निकट गए। वह नीचे बैठ गए और उस का सिर गोदी में रखकर बोले–"अंगुलीमाल, तुम कैसे हो? क्या तुम अत्यन्त भाग्यवान् नहीं हो? इन सब लोगों ने अपने इस कर्म द्वारा अपना–अपना ऋण चुका लिया है। अब तुम एक स्वतन्त्र पक्षी हो। तुम्हारे लिए निर्वाण का द्वार खुल गया है।"

एक युवक एक संन्यासी के पास संन्यास लेने गया। उस के माता–पिता बड़े परेशान हो उठे। वह संन्यासी के पास गए और उन्हें अपने बच्चे को संन्यास न देने की प्रार्थना की–"आखिर उस ने अभी जीवन कहाँ देखा है।" यही शिकायत वे बार–बार कर रहे थे।

संन्यासी नें उन से पूछा–"तुम कहते हो कि वह अभी जवान है और उस ने अभी जीवन क्या देखा है? तुम ने तो देखा है? क्या ऐसा नहीं है? तब तुम संन्यास क्यों नहीं ले लेते?"

वे बोले–"आपका कथन बिल्कुल सत्य है। हमें इस पर विचार करने का समय दें, परन्तु इस के पहले कृपया हमें अपने बेटे को घर ले जाने की आज्ञा दें।"

हम मानते हैं कि अध्यात्म शायद वृद्ध के लिए है। जब आयु ने हमारा सब कुछ तहस–नहस कर दिया हो, हमें अशक्त बना दिया हो और हम किसी काम के न बच गए हों। कैसी भ्रान्ति ?

भोग की भाँति योग के लिए भी जवानी की जरूरत है।

व्यक्ति जितना अधिक बुद्धिमान्, धनवान्, सुन्दर, स्वस्थ, प्रसिद्ध और सफल होता है, उतना ही बड़ा उस का अहंकार होता है।

कुछ ऐसे लोग हैं, जो वास्तव में सीखना चाहते हैं परन्तु उन का अहंकार उनके आड़े आता है और अपने गुरु से भी ईर्ष्या करने लगते हैं।

जैसे तुम अपने कपड़ों में छुपे रहते हो, वैसे ही आत्मा=जो तुम हो, तुम्हारे व्यक्तित्व, शरीर, मन, बुद्धि के पीछे छुपी हुई है। तुम अपने कपड़ों के पीछे स्थित शरीर की ओर अपने मन को मोड़ कर अभी यहीं अपने-आप को नंगा देख सकते हो।

तुम भूल गए हो कि तुम अपने व्यक्तित्व के पीछे छुपे हुए हो। (व्यक्तित्व शब्द व्यक्त से निकला है जिस का अर्थ है कि तुम्हारे अपने स्वरूप की स्थूलतम अभिव्यक्ति) तुम इन कपड़ों—शरीर, मन, बुद्धि को जन्म-जन्मान्तरों से धारण करते आ रहे हो। तुम इन कपड़ों के साथ इतने तद्रूप हो गए हो कि तुम्हें लगता ही नहीं कि ये कपड़े हैं। तुम सोचते हो कि तुम कपड़े ही हो। यही वास्तविक बाधा है। "जब तुम कामग्रस्त होते हो, तो क्या तुम्हारा वस्त्र होता है और तुम शरीर होते हो; जब तुम क्रोध या लोभग्रस्त होते हो तो ये कपड़े होते हैं और तुम शरीर होते हो। यदि तुम्हारी दृष्टि काम, क्रोध और लोभ की ओर ही मुड़ी रहती है तो तुम कपड़े ही बने रहते हो। यदि तुम दृष्टि को अपनी ओर मोड़ पाते हो तो तुम 'तुम' हो जाते हो, बिल्कुल नंगे। जैसे कि तुम सदैव अपने कपड़ों के पीछे रहते हो।"

देवदत्त नामक एक व्यक्ति था जो दीक्षार्थ महात्मा सत्य स्वामी जी के पास गया। स्वामी जी ने उसे कुछ दिनों के बाद आने को कहा। वह एक मास के बाद आया। महात्मा ने पुनः टाल दिया। तदनन्तर सत्य स्वामी कहीं चले गए बिना सूचना दिये। कुछ वर्ष बीत गए। उधर देवदत्त व्यापारादि से धनी बन गया और नगर का एक सुप्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाने लगा। सत्य स्वामी बहुत समय बाद पुनः उस नगर में आये। देवदत्त को पता लगा तो कुछ दिन तक अपने देह को पवित्र करने की प्रार्थना की। वहाँ जाने पर अगले ही दिन फिर उस ने दीक्षा देने की प्रार्थना की। सत्य स्वामी बोले—"हम तुम्हें कल दीक्षा देंगे।"

अगले दिन भोजन समय सत्य स्वामी अपने कमरे से बाहर आए। हाथ में उन के मल आदि से भरा कमण्डलु था। दूसरे प्रतिष्ठित अतिथियों के सम्मुख वह देवदत्त से बोले—"तुम्हारे पास जो कुछ भोजन बना है, वह इसमें डाल दो।"

देवदत्त ने महात्मा के शान से डर कर बड़ी नम्रता से उस महात्मा सत्य स्वामी से कमण्डलु को साफ करने की प्रार्थना की। सत्य स्वामी कुछ गम्भीर होकर बोले—"जब इस कमण्डलु की यह स्थिति है कि

तुम्हें इस में बहुमूल्य पकवान डालने उचित नहीं लगते तो फिर तुम मुझे अपने मलिन हृदय में प्रभुओं के प्रभु परम तत्त्व को प्रतिष्ठित करने का क्यों आग्रह करते हो ?"

देवदत्त ने महात्मा के संकेत को पकड़ लिया और उसे दीक्षा के रूप में ग्रहण कर लिया। किसी के जीवन में ऐसा मोड़ ही वास्तव में उस की सच्ची दीक्षा है।

शास्त्र ही उत्तम गुरु हैं। वे उन सत्य अनुभवों का संग्रह हैं जिन की सत्यता की पुष्टि युगों से एक के बाद एक ऋषि करते आए हैं। उन का गहन अध्ययन करो। उन का मनन करो। अग्रज साधकों से चर्चा करो और आगे बढ़ो।

यदि तुम शुद्ध हृदय हो और वास्तव में तुम्हें मानव रूप में गुरु अपेक्षित है तो निश्चय ही तुम्हें मिलेगा और तुम्हारे उत्थान में सहायक होगा। यह समान विचार के लोगों का एक दूसरे के प्रति आकर्षण का नियम है।

स्वयं प्रभु ही प्रथम गुरु है जिस ने ज्ञान प्रदान किया।

हिन्दु अपने देश से ऐसे ही प्रेम करते हैं जैसे कि कोई बच्चा अपनी माँ से प्यार करता है। यह उन के लिए मातृभूमि है और पुण्यभूमि है।

सम्पूर्ण संसार में किसी भी धर्म में एक भी ऐसा पहलू नहीं है जो किसी न किसी रूप में वेद रूपी इस प्राचीनतम ज्ञान–कोश में विद्यमान न हो।

एक व्यक्ति भगवान् बुद्ध के पास गया और बहुत से प्रश्न किये। उन्होंने बहुत ही सन्तोष जनक उत्तर दिये। अगले दिन वह फिर आया और फिर बहुत से प्रश्न किये और उन्होंने उत्तर दिये। तीसरे दिन वह फिर आया और उन से वह प्रश्न पूछने लगा, किन्तु इस बार बुद्ध चुप रहे। वह प्रश्न करता चला गया। अन्ततः बुद्ध बोले कि—क्या वह बिना प्रश्न किये उन के पास एक वर्ष रह सकता है? वह सहमत हो गया। तीन दिन बाद वह पुनः उन के पास आया और बोला कि वह घुटन अनुभव कर रहा है। उस के भीतर बहुत से प्रश्न उठ रहे हैं और वह उन का उत्तर चाहता है।

भगवान् बुद्ध मुस्कुराए और बोले—"अपने वचन पर टिके रहो और एक वर्ष तक कोई प्रश्न न करो। तथापि तुम घुटन महसूस कर रहे हो तो अपने भीतर उस तत्त्व को खोजने का यत्न करो जिस से प्रश्न प्रकट होते हैं? प्रश्नकर्ता कामनाकर्ता का पता लगाने का यत्न करो।"

एक वर्ष बीत गया। एक दिन बुद्ध स्वयम् उस के पास चलकर गए

और बोले—"अब प्रश्न करो; हमारा कर्तव्य पूरा हो गया है। अब यहाँ आए हुए तुम्हें एक वर्ष पूरा हो गया है।" वह व्यक्ति मुस्करा दिया क्योंकि उस के पास अब पूछने को कुछ नहीं था।

निःस्वार्थ कर्म। प्रभु-प्रसन्नता के लिए कर्म करना या फल पर दृष्टि रखे बिना कर्तव्य कर्म का सम्पादन।

धारणा—मन का कुछ क्षणों के लिए ध्येय पर टिकना।

ध्यान—मन का कुछ देर के लिए ध्येय पर टिकना।

समाधि—मन का ध्येय के साथ तद्रूप हो जाना।

योग के प्रथम पांच अंगों में स्थिति अभ्यास द्वारा और बाद के तीन अंगों में स्थिति वैराग्य द्वारा सम्भव है।

शत्रु द्वारा हमें जो क्षति पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है यदि साधक चाहे तो उस से भी आत्मशुद्धि का लाभ उठा सकता है।

जैसे मञ्च के सञ्चालक की दृष्टि में सब पात्र समान होते हैं वैसे ही योगी का उस के प्रति-वैरभाव रखने वालों के प्रति भी हितकारी दृष्टिकोण ही होता है। उस की यह अत्यन्त कल्याणकारक दृष्टि संघर्षरत मानवता के लिए एक वरदान सिद्ध होती है।

सच्चा सदाचारी व्यक्ति वही है जो अकेले में भी कभी कोई पाप नहीं करता।

वह कोई पुण्य कर्म नहीं जो समाज के भय से किया जाता है।

वास्तव में वही संयमी है जो एकान्त में या दूसरों के सामने किसी नारी पर कुदृष्टि नहीं डालता है।

उसे ही संयमी कहना चाहिये जो किसी वीरान घर में प्राप्त स्वर्ण मुद्राओं पर भी लोभ दृष्टि नहीं डालता है। वही शुभ कर्म है जो चुपके से और बिना किसी आडम्बर के किया जाता है।

जिस हद तक मन विषय, व्यक्ति, स्थान, पद की लालसा से युक्त रहता है, उसी हद तक वह अपनी अन्तर्निहित शुद्धता से वञ्चित रहता है।

इन्द्रियों को विषयों से रोककर मन्त्र की पुनः-पुनः आत्मा पर स्थापना यही मात्र विधि है पुनः स्थिति की।

शरीर को जल से धोने और साफ करने की भाँति मन को भी बार-बार आत्मचिन्तन द्वारा शुद्ध करना है। यह जीवन भर की साधना है। यह उतना ही जरूरी है जितना स्थान और भोजन।

दूध पानी में सहज ही मिल जाता है परन्तु यदि उसे जमाकर, मथकर, मक्खन निकाल कर फिर उस में जल डालो तो तैरने लगता है। उसी तरह हमें मन में जो विषय आदि में शीघ्र ही मिल जाता है, यदि जप-तप आदि से उस में आत्मा के प्रति-भक्ति जगा दी जाए तो तब फिर वही मन संसार के सम्पर्क में आता है, फिर वह विषयों रूपी जल पर तैरता रहता है, फिर संसार का सम्पर्क हानिकर नहीं होता।

मन का पूरी तरह वश में आ जाना ही 'योग' है।

मन का चुप हो जाना और आत्मा में तृप्ति अनुभव करना ये पर्यायवाची शब्द हैं। विषयों से बलपूर्वक भूखा रखा गया मन हठी हो जाता है। यदि यह जो कुछ चाहता है उसे नहीं दिया जाता है तो यह चिड़चिड़ा हो जाता है और षड्यन्त्र रचता रहता है।

"मुझे देखकर कुछ भी नहीं प्राप्त हो सकता जो मेरे अपने कर्मों का फल न हो।"

सभी कर्मों की पराकाष्ठा आत्मा में स्थिति है। नदी तब तक बहती रहती है जब तक कि वह समुद्र में नहीं मिल जाती है, समुद्र में मिल जाने पर उसके सभी कर्म विलीन हो जाते हैं। वैसे ही आत्मा में स्थित हो जाने पर मन के कर्म भी समाप्त हो जाते हैं। सब कर्मों का अन्तिम लक्ष्य मन की आत्मा में स्थिति ही है जिसका मन आत्मा में रमण करने लगा है, उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा।

शुरू-शुरू में कर्मफल के प्रति आसक्ति का त्याग न कि कर्म का ही त्याग-हृदय के कारण होता है। निष्काम कर्म और शान्ति दोनों साथ-साथ ही चलते हैं।

मन की शान्ति तो उसे ही प्राप्त होती है। उसे जो भी दुःख व सुख की प्राप्ति होती है, उसके लिए न तो किसी को दोषी ठहराता है और न किसी को श्रेय ही देता है। यदि वह इस नियम को सही-सही समझ ले तो उसके सामने यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसे जो कुछ भी प्राप्त होता है वह उसके अपने ही कर्मों का फल है और कोई दूसरा उसके दुःख व सुख के लिए जिम्मेदार नहीं है। तथापि वह पूरी तरह से यह जानते हुए कि कर्म पर उसका अधिकार है सफर पर नहीं, निःस्वार्थ भाव से कर्म करना जारी रखता है।

किन्तु सब क्रियाओं की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी है तो फिर कर्म फल की चिन्ता ही क्यों की जाय या अपनी असफलता के लिए किसी

दूसरे को दोषी क्यों ठहराया जाय। कोई भी ईश्वरीय नियम में न तो कोई बाधा खड़ी कर सकता है और न उसमें सहयोग ही दे सकता है।

कर्म करो और शेष सब कुछ इस नाटक के स्वामी पर छोड़ दो। अरबों की उक्ति है कि जो कुछ भी ईश्वर करता है वही वास्तव में सही होता है। यदि वह तुम्हारी सभी कामनाएं पूरी कर दे तो तुम अभी जिस दुःख में हो, तुम निश्चय ही उससे बड़े दुःख में पड़े मिलोगे।

एक सूफी सन्त को इस उक्ति पर शंका हुई तो उसकी सत्यता जानने को उसने बड़ा तप किया। समय पाकर प्रभु प्रकट, प्रसन्न हुए और बोले—"तुम तीन वर मांग लो।"

सूफी सन्त बोला—"भगवन्! मैं घर जाकर पत्नी से सलाह कर लूँ, वह घर गया और अपनी पत्नी को सम्पूर्ण घटना सुनाई।"

और बोला—"तुम जो चाहो मांग लो।"

वह बोली—"कृपया मुझे एक पतीला दिला दो।" वह सहज रूप में आ गया। सन्त बड़ा क्रोधित हुआ और उसने उसको शाप दिया। जा मर जा, और आश्चर्य की वह गिर पड़ी और मर गयी। वह अब स्तब्ध रह गया और जल्दी में बोला—"भगवन् मैं मूर्ख हूँ। मुझे क्षमा करें और मेरी पत्नी मुझे वापस लौटा दो।"

प्रभु बोले—"तथास्तु!"

उसकी पत्नी उठ बैठी और इस तरह उसके तीनों वर पूरे हो गये। सन्त बोले—"प्रभो! जो तुम्हें ठीक लगे, वही करो। हम तो नन्हे बच्चों के समान हैं हमें नहीं पता कि हमारा कल्याण किसमें है। हम तो मात्र कर्म ही कर सकते हैं और हमें वही करते रहना चाहिए।"

सदा सोचो—"अपनी बुरी या अच्छी स्थिति के लिए मैं स्वयं ही जिम्मेदार हूँ, कोई दूसरा नहीं।" शास्त्राध्ययन करो और श्रेष्ठों का संग करो।

ये दुःख और सुख आने-जाने वाले हैं, अस्थिर हैं एक तुम ही इनके पीछे स्थिर हो।

महात्मा बुद्ध—"हे भिक्षुओ! मैं केवल दो ही चीजें तुम्हें सिखाता हूँ— दुःख और सुख से मुक्ति।"

गुरु नानक—"नानक दुखिया सब संसार।"

तृष्णा—भिक्षुओ, यह तृष्णा कैसे पैदा होती है? कैसे यह मनुष्य के हृदय में जड़ जमाती है।

भिक्षुओ ! हर परिवर्तनशील संसार में मनुष्य को जो प्रिय लगता है अथवा जिसमें वह सुख देखता है, उसी में यह तृष्णा पैदा होती है और यह पुनरावृत्ति द्वारा उसके हृदय में जड़ें जमाती है ।

"इस परिवर्तनशील संसार में प्रिय और सुखकर क्या है?"

"आंख रूप की ओर आकर्षित होती है, कान शब्द की ओर, नाक गन्ध की ओर, जिह्वा रस की ओर, त्वचा स्पर्श की ओर आकर्षित होती है, मन (विचार, स्मृति द्वारा) विषयों की ओर आकर्षित होता है, इनमें ही तृष्णा पैदा होती है और शनैः-शनैः अपनी जड़ें जमाती है ।"

"भिक्षुओ ! इस तृष्णा के कारण ही राजा, राजाओं से लड़ते हैं । योद्धा योद्धाओं से लड़ते हैं, विद्वान् विद्वानों से लड़ते हैं । व्यापारी एक दूसरे की टांग खींचते हैं, मां बच्चों से लड़ती है, बच्चे मां से लड़ते हैं। भाई बहिन से लड़ते हैं, चोर सेंध लगाते हैं, दुष्ट लूटपाट करते हैं, मारकाट करते हैं, रास्ता रोकते हैं और परस्त्रीगमन करते हैं। ऐसे लोग राजाओं द्वारा पकड़े जाकर विभिन्न प्रकार से दण्डित किये जाते हैं। इस तृष्णा के कारण ही भिक्षुओ ! मनुष्य अपने शरीर, वाणी, और मन से कुकर्म में प्रवृत्त होते हैं। वह भयानक स्थिति को पाते हैं ।"

"भिक्षुओ ! संसार में कहीं भी न आकाश, न गुफा, न जल, न स्थल, न पर्वत, न कन्दरा में कोई स्थान ऐसा नहीं जहां व्यक्ति भागकर अपने बुरे कर्मों के फल से बच सके।"

इस तृष्णा को कैसे पहले कमज़ोर बनाया जाय और फिर कैसे इसको निरुद्ध किया जाये ।

"भिक्षुओ ! इस संसार में व्यक्ति को मूर्खता वश जो कुछ प्रिय लगता है और उसे सुखकर लगता है, उसमें ही वह तृष्णा को कमजोर करता है तथा फिर उसको सिद्ध करता है, यही योग के शब्दों में 'प्रतिपक्ष भावना' और वेदान्त में 'विचार' है तो उसके लिए दुःख का नाश सम्भव है ।"

"भिक्षुओ ! इस तृष्णा से केवल वही मुक्ति पाता है। जो-जो वस्तुएं उसे प्रिय लगती हैं, सुखकर लगती हैं, उन्हें भारी दुःख, रोगादिप्रद मानता है और अनुभव करता है। इस तरह उनसे ऊपर उठता है ।"

"भिक्षुओ ! 'काम-तृष्णा' और 'भव-तृष्णा' सदा बने रहने की इच्छा से मुक्ति पा लेने पर मनुष्य का बाद में जन्म नहीं होता क्योंकि इस तृष्णा का निरोध हो जाने पर फिर जन्म नहीं होता ।"

"भिक्षुओ ! यदि कोई जन्म से मुक्ति पा लेता है तो उस की बुढ़ापे, मृत्यु, शोक, रुदन, विलाप, पीड़ा, चिन्ता और भ्रान्ति आदि से मुक्ति हो जाती है, इस तरह उसका सम्पूर्ण दुःख समाप्त हो जाता है।"

"भिक्षुओ ! जिसका हृदय राग में जकड़ा हुआ, द्वेष से गदला हो रहा है और मोह से मूढ़ हो रहा है, वह ऐसे सोचता है जो उसे भी दुःख देता है और दूसरों के लिए भी दुःख का कारण बनता है।"

"भिक्षुओ ! जिसका मन राग आदि से मुक्त हो गया हो, वह कभी ऐसा नहीं सोचता है जो उसे दुःख दे और दूसरों के लिए भी दुःख का कारण बने। वह कभी भी मानसिक दुःख और चिन्ता का शिकार नहीं होता है।"

"भिक्षुओ ! इस तरह वह जीते-जीते ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। यदि वेदान्त की भाषा में जीवन मुक्ति या योग के शब्दों में प्रकृति से मुक्ति और अपने स्वरूप में स्थिति है।"

"भिक्षुओ ! आओ और स्वयं देख लो तब उसके लिए कुछ भी करने को नहीं रहता, तब कोई भी कर्म उसके लिए पश्चात्ताप का कारण नहीं बनता। जैसे कि विशाल पर्वत प्रचण्ड से प्रचण्ड वायु द्वारा भी किञ्चित् हिलाया नहीं जाता, वैसे ही अनुकूल व प्रतिकूल रूप, रस आदि उसे जरा भी विचलित नहीं करते उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।"

"जो लोग निरन्तर ये सोचते रहते हैं कि उसने मुझे गाली दी, उसने मुझे मारा, उसने मेरा मजाक उड़ाया, उनका वैर-भाव कभी दूर नहीं होता। वैर से वैर शान्त नहीं होता वह तो अवैर से ही शान्त होता है।"

बिना अपने आप को खोये सत्य प्राप्त नहीं होता।

"जब मैं था तब तू नहीं था, जब तू है तब मैं नहीं।"

"मञ्जिल चाहे दूर हो, हिम्मत न हारिए।"

प्रत्येक अनुकूल व प्रतिकूल स्थिति में मन को शान्त और सम रखने का अभ्यास कीजिए।

अपनी सन्तान को ऊपर उठाने के ढंग निराले हैं। वे कभी अनुकूल व कभी प्रतिकूल अवस्था लाकर शिक्षा देते हैं। अतः साधक को हर समय सावधान रहते हुए प्रत्येक घटना में कल्याण की भावना पैदा करके मन को शान्त रखने का यत्न करना चाहिए।

मनुष्य को जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, संयोग-वियोग अपने जीवन में प्राप्त होते हैं। इनका आधार उसके वर्तमान

कर्म ही नहीं हैं, परन्तु इनमें और भी बहुत से कारण हैं जिनमें प्रमुख प्रारब्ध कर्म हैं।

इस लोक के धन की बजाय परलोक के धन पर ही हमारी दृष्टि अधिक रहनी चाहिए।

संसारी और असंसारी (योगी) के मार्ग अलग-अलग हैं। संसारी की जो रात है अर्थात् जिसमें वह सोया हुआ होता है उसमें योगी जागता है। अर्थात् वह उसका दिन होता है। विरोधी व्यक्तियों के प्रति उनके कल्याण की भावना से समुचित कर्म भी करते रहना चाहिए। अन्त में परिणाम चाहे कुछ भी निकले उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

यदि कोई आप पर दोष लगाए तो आप पहले देखें कि वह आप में है या नहीं? यदि है तो उसको दूर करो और बताने वालों के प्रति कृतज्ञता अनुभव करो। उनका धन्यवाद करो। यदि वह दोष तुम में नहीं है तो फिर चिन्ता ही मत करो क्योंकि उस दोषारोपण में दम ही नहीं रहेगा।

तब प्रभु का आश्रय लेकर पग आगे बढ़ाते जायें। प्रभु रक्षा करेंगें।

जीवन का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है। साधक को इसके लिए इन्द्रिय-संयम और मन की एकाग्रता की जरूरत है।

संसार में तीन बड़ी जबरदस्त चीजें हैं जिनकी हानि से व्यक्ति बेचैन हो उठता है और उचित अनुचित का विवेक खो बैठता है। वे हैं—'धन, सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र आदि परिवार, मान-सम्मान हैं।

जिज्ञासु को इन तीनों से अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए। यदि इन तीनों की कद्र हृदय में बैठ जाए तो ये बड़ी घातक सिद्ध होती हैं। इनकी कद्र हमारे भीतर जन्म जन्मान्तरों से भरी हुई है, जिससे हम दुःखी बने रहते हैं। इनकी कद्र घटाना ही वैराग्य कहलाता है। इसके बिना आत्मज्ञान या सत्य-ज्ञान सम्भव नहीं और बिना आत्मज्ञान शान्ति कहां।

संसार में इन पदार्थों से हमें जो चुभन प्राप्त होती है, वह तब तक ही प्राप्त होती है जब तक इनमें हमारा राग बैठा हुआ होता है।

संसार के सब पदार्थ आने जाने वाले हैं। साधक को चाहिए कि इनके आने-जाने से विचलित न होकर इसे खुशी-खुशी सहन करे।

मुसाफिरों की तरह संसार में समय काटना चाहिए। संसार में सब अपने-अपने स्वार्थ से बरतते हैं, यह नितान्त सत्य है। केवल वही व्यक्ति इससे छूटता है जिसकी कामनाएं बिल्कुल समाप्त हो गई हैं, अर्थात् जो इस निश्चय में स्थित हो गया है कि संसार में उसका न तो कुछ बनता

है और न बिगड़ता है, कि वह तो सत्य तत्त्व है। जिसका किसी काल में अभाव नहीं होता और न ही परिवर्तन होता है। शरीरमात्र उसका साधन है जिसका होना या न होना कुछ लाभ या हानि नहीं।

"नानक दुखिया सब संसारा वह ही सुखिया जो नाम आधारा।"

घबराहट तो कर्मफल पर दृष्टि की ही सूचक है।

धन और मान की इच्छा ही मनुष्य को अशान्त बनाती है।

"बीति ताहि बिसार दे, आगे की सुध ले।"

आप अपना कर्त्तव्य पालन करते रहें। इसमें चाहे दुःख प्राप्त हो चाहे सुख, उसकी परवाह न करें।

बुद्धिमान् साधक के लिए यह जरूरी है कि वह वाणी का दुरुपयोग न करे। जब कभी बोले तो सत्य तथा मधुर बोले, व्यर्थ कदापि न बोले।

साधक का सब से बड़ा साधन यही माना गया है कि मन, वचन और शरीर से कभी भी पाप न करें। तदनन्तर वह फिर इसी मन, वचन और शरीर से दूसरों का हित करे।

इस संसार में चैन कहाँ? अर्थात् यहाँ चैन के स्वप्न नहीं लेने चाहिये।

मनुष्य अपने ही शुभ-अशुभ कर्मों के फल-रूप में सुख-दुःख प्राप्त करता है, किसी दूसरे के कर्म उसे सुख-दुःख नहीं दे सकते।

जो कोई किसी का भला करता है, वह वास्तव में अपना ही भला करता है। क्योंकि भले कर्म से भला स्वभाव बनता है। भले स्वभाव वाला ही अपने भीतर शान्ति अनुभव करता है।

"मन जीते जग जीत।"

सिपाही को प्रत्येक लड़ाई में विजय नहीं मिला करती। समय-समय पर उसको हार-जीत के दर्शन होंगे ही, परन्तु इससे वह अपना सिपाहीपन नहीं छोड़ता। ऐसा ही साधक को भी होना चाहिये।

ऐसा आप को सब व्यक्तियों के बारे में समझ लेना चाहिये। आपको चाहिये कि कोई कैसे भी चले, अर्थात् अच्छा चले या बुरा, उससे अपने मन को क्षुब्ध न होने दें। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है और वह अपने कर्मों से सुख-दुःख भोगता है। सुखी वही है जिसे हर स्थिति में प्रसन्न रहना आ गया।

सुख-दुःख होता है। इसी तृष्णा का दूसरा नाम सुख की कामना है।

"सब दिन होत न समान।"

गुरु तेगबहादुर के कष्ट-काल का यह वाक्य है :

"तेरा भाणा मीठा लागे।"

देह धरे का दण्ड है सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से मूरख भुगते रोय ॥

क्रोध—काम के पूर्ण न होने पर या कामना के विरुद्ध दर्शन होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। यदि कामना सोच-समझ कर की जाए और फिर उसकी पूर्ति-अपूर्ति की चिन्ता छोड़ दी जाय तो फिर क्रोध की सम्भावना नहीं रहती।

यह तन विषय भोग के लिए नहीं वरन् सत्-चित्- आनन्द-स्वरूप-प्रभु को पाने को मिला है। यह गाड़ी बन्धनों से छुटकारा पाने को मिली है।

मन को विषयों से हटाकर हृदय में स्थित भगवान् में लगाया जाये तो हमें उसके दर्शन हो सकते हैं।

जो आया है वह जायेगा, यह अटल सिद्धान्त है। जिससे जितना अधिक प्यार होता है, उतना ही अधिक उसका वियोग होने पर दुःख होता है। इसलिए विद्वान् संयोग-वियोग को संसार का स्वरूप जानकर अपने हृदय में संसार से वैराग्य प्राप्त करते हैं। वे कहीं भी आसक्त नहीं होते।

साधक को चाहिये कि वह कर्म समझ कर या प्रभु आज्ञा समझकर सब कार्य करता रहे। कार्य पूरे होते हैं या नहीं होते हैं, इसकी चिन्ता छोड़ दे। इस तरह प्रभु-चिन्तन सदा बना रहता है और मनुष्य पाप-ताप से बचा रहता है।

खाने-पीने में भी संयमी रहना चाहिये जिससे शरीर की तन्दुरुस्ती बनी रहे और मन भी शान्त रहे।

खाना, पीना और पहनना शरीर रक्षा के लिए करना चाहिये, स्वाद और शौक के लिए नहीं।

दाम्पत्य जीवन में जितना हो सके, संयम से रहना चाहिये। चुप्पी में ही शान्ति है।

"जितने अंश में संसारी व्यक्ति रूठे रहें, उतना ही अच्छा है। प्रभु नहीं रूठने चाहिये। इससे संसार से वैराग्य प्राप्त होता रहता है।"

पाप से घृणा करनी चाहिये, पापी से नहीं, पापी से घृणा करने से तो अपना मन दूषित हो जाता है।

सब प्राणी भगवान् की सन्तान हैं। हमें सब में भगवान् को अनुभव कर सब से प्रेम ही बढ़ाना चाहिये। वह पापी है तो हम उसके पाप से घृणा

करें, उससे नहीं ।

दान से भी अपरिग्रह उत्तम है। यदि परिग्रह संग्रह हो भी गया है तो उस में मन को लोभी न बनने दो सुपात्र मिले तो उस को दे दो ।

"गुरुओं का गुरु तो परमात्मा ही है। वह हमारे भीतर है। अतः उसी से ही आदेश उपदेश और निर्देश ले कर हम चलें ।"

"मन मतंग मानत नहीं, जब तक धक्के न खाय ।"

बुद्धिमान् दुःखों से लाभ उठाकर अपना जीवन सुखमय बना लेते हैं, और मूर्ख अपने जीवन को और भी दुःखमय बना लेता है।

आप के दुःख को जानकर दुःखित सा होता है, परन्तु क्या किया जा सकता है? संसार में आए हुए व्यक्ति को यह सुख-दुःख, संयोग-वियोग, हानि-लाभ, मान-अपमान सब भोगने ही पड़ते हैं। यह संसार का स्वभाव ही है। मनुष्य को चाहिये कि संसार के इस स्वभाव को जानकर इनको सहन करते हुए करणीय कर्म करता रहे।

अपने दोषों को देखना और उन्हें निकालने में लगे रहना ही साधन है। इससे प्रभु में प्रीति बढ़ती है।

सब से पहले तीर्थ तो अपना ही है जहां प्रियतम प्रभु का नित्य वास है। यह सब से निकट भी है।

सब अच्छे बुरे कर्मों का फल तत्काल नहीं निकला करता। समय पाकर ही प्रत्येक कर्म का फल निकला करता है परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा निकलता है। अतः बुद्धिमान् को चाहिए कि वह सदैव अच्छे कर्म ही करे।

व्यर्थ खर्च करना और अपनी आय से अधिक व्यय करना और संकटग्रस्त होकर सुख-दुःख के लिए कुछ बचाकर न रखना यह भी वर्तमान में बड़ा भारी दोष है।

शान्ति धन से नहीं आती (वह तो शुभकर्मों का परिणाम है)।

बुरी आदत वाले चाहे आपके रिश्तेदार ही क्यों न हों, आपको उनकी संगति का त्याग कर देना चाहिए ।

अपनी ओर से मनुष्य न किसी को सताए और न ही किसी का हक छीने ।

दुःख दूर करने के लिए मनुष्य अपने कर्म सुधारे और प्रभु की शरण ले ।

सुख-दुःख तो मनुष्य को, चाहे वह कहीं भी क्यों न चला जाए,

अपने कर्मानुसार प्राप्त होते रहेंगे। हां सुख–दुःख का बाह्य रूप अवश्य बदलता रहेगा ।

अजेय जप का प्रत्येक मन्त्र जो गुरु से अपने को प्राप्त हुआ है। वह पहले वाणी से चला है। तदनन्तर कुछ अभ्यास होने पर वह कण्ठ से चलने लगता है। अन्त में काफी अभ्यास के हो जाने पर जब वह मन्त्र अपने आप मन से चलने लगता है तो यही अजेय जप कहलाता है ।

कुछ मन्त्र सीधे ही प्राणों के द्वारा या मन के द्वारा किए जाते हैं। उनका भी पूरा अभ्यास होने पर बाद में जब वे अपने आप मन से होना प्रारम्भ हो जाते हैं। तब वे भी अजेय–जप नाम से कहे जाते हैं ।

कोई भी जप जो वाणी से किया जाए, यदि वह काफी समय तक श्रद्धा पूर्वक लगातार किया जाए तो वह अन्त में अजेय जप का रूप ले लेता है ।

"मन के ख्यालों को अपने से भिन्न सिनेमा की तरह देखते रहें, और अपने विषय में यह न सोचें कि आप ऐसे हैं ।"

संसार में मनुष्य जीवन की सफलता और सार्थकता प्रभु–भजन में ही है ।

विरोध से विरोध ही बढ़ता है । अतः इससे बचो ।

"निज सुख के लिए किसी को भी न सताएं, किसी का हक न छीनें; किसी स्त्री पर बुरी दृष्टि न डालें, झूठ न बोलें ।"

सन्तोष प्राप्त व्यक्ति ही प्रभु के निकटवर्ती होता है ।

"बिनु विवेक सत्संग न होई । बिनु विवेक वैराग्य न होई ॥
बिना वैराग्य भक्ति न होई ।"

संसार की उलझनें जिसको अधिक आती हैं, यदि वह विवेक से काम ले और घबराए नहीं तो ये उलझनें ही उस मनुष्य को देवता बना देती हैं ।

अपनी ओर से जितना भी हो सके, सब की भलाई ही करते रहो, परन्तु अपनी भलाई का बदला लेने का ख्याल भी न करें। इससे मन शान्त रहता है और प्रभु भी प्रसन्न रहते हैं। अतः यह लोक भी सुधरता है और परलोक भी ।

परमात्मा को हृदय से स्मरण रखते हुए उसकी आज्ञानुसार सब व्यवहार करना और उसकी आज्ञा के विरुद्ध कोई भी आचरण न करना यही ईश्वर–पूजा है, ईश्वर–भजन है ।

उसकी आज्ञाएँ हैं—किसी भी प्राणी को मन, वचन और कर्म से न सताना।

किसी का भी अधिकार न छीनना।

सदा सत्य, मधुर, मेल कराने वाला और कल्याणकारी ही बोले और फिजूल न बोले।

सन्तान की इच्छा के बिना गृहस्थ न करे। ब्रह्मचर्य का ही पालन करे।

संसारी पदार्थों का लोभ न करे यदि दैवाधीन पदार्थ अधिक प्राप्त हो जाए तो अधिकारी मनुष्य को आवश्यकतानुसार दे देवे।

इन श्रद्धाओं पर चलने वाला भगवान् का भक्त, भगवान् का प्यारा माना जाता है। वह यहां भी शान्ति से जीवन व्यतीत करता है और मरने के बाद भी सद्गति को प्राप्त होता है।

न मनुष्य और न ईश्वर ही किसी का बुरा-भला करता है और न कर ही सकता है। मनुष्य को जो भी कुछ भला-बुरा मिलता है अथवा अनुकूल-प्रतिकूल फल की प्राप्ति होती है, वह उसके अपने ही पूर्वकृत कर्मों के आधार पर होती है—ये कर्म चाहे वर्तमान के हों या पिछले जन्म के हों।

अतः बुद्धिमान् साधक को चाहिए कि उसे जो कुछ भी सुख-दुःख की प्राप्ति हो, उसका शान्त चित्त से भोग करे और किसी को भी भला बुरा न कहे। अपनी ओर से जितना भी हो सके, सब की भलाई ही करता रहे परन्तु अपनी भलाई का बदला लेने का ख्याल भी न करे। इससे मन शान्त रहता है और प्रभु भी प्रसन्न होते हैं अर्थात् यह लोक भी सुधरता है और परलोक भी।

"धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपातकाल परखेऊ चारी।"

धीरज और धर्म की परख तो कष्ट के समय ही होती है। आगे पीछे तो प्रायः सभी धीर और धार्मिक बने रहते हैं सिवाय उनके जो अत्यन्त दुष्ट होते हैं।

अपनी ओर से किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रखनी चाहिए और जितना हो सके सब का भला करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर भी यदि कोई शत्रुता रखे तो डरना नहीं चाहिए।

"अपने दुःखों के लिए किसी को भी दोष न दें।"

"मनुष्य को अपने जीवन में जिन कष्टों की प्राप्ति होती है वह

उसके किसी न किसी समय, जन्म में की हुई त्रुटियों, प्रभु की अवज्ञा का फल ही होती है। अतः मनुष्य को उसे धैर्य से सहतें हुए प्रभु के न्याय पर भरोसा रखकर विवेक पूर्वक कार्य करना चाहिए।"

"किसी भी जड़-चेतन वस्तु को अपना न मानो। वस्तुओं को अपना मानो केवल कार्य करने तक। **(यह सब उसी का है वह स्वामी है।)**"

"मनुष्य जीवन की सार्थकता तो ईश्वर-भजन में ही है। यदि मनुष्य चोला पाकर भी संसार के भजन में ही समय बिता दिया तो बड़ा ही घाटे का सौदा होगा।"

यदि मनुष्य संसार का ही भजन करता रहा अर्थात् संसार के पदार्थों-धन-वैभव, मान-सम्मान, परिवार आदि की वृद्धि में ही लगा रहा और थकने पर नींद में बेहोश हो गया तो बताइये कि उस मानव चोले में आकर उसने क्या कमाया।

ये संसारी पदार्थ तो पशु-पक्षी आदि सब योनियों में आसानी से उपलब्ध हैं परन्तु ईश्वर-भजन तो केवल मनुष्य-शरीर में ही सम्भव है।

वस्तुएं तो मनुष्य को चाहे कितनी भी मात्रा में क्यों न प्राप्त हो जाएं, वह सदैव अपूर्णता का ही भान करता रहेगा।

मनुष्यों का सहारा तो अपूर्ण ही है। पूर्ण सहारा तो देवाधिदेव प्रभु का ही है। उसी का सहारा लेने पर पूर्ण शान्ति मिलती है।

"प्रातः भ्रमण के लिए कुछ समय अवश्य रखना चाहिए।"

भ्रमण से आकर एकान्त कमरे में बैठकर कम से कम ५ और ज्यादा से ज्यादा २१ प्राणायाम करो। (घी, दूध के आहारानुसार)

उसके बाद शुद्ध सामग्री, घृत से हवन करो। हवन मन्त्र याद हों तो उनसे, नहीं तो १६ या ३२ गायत्री मन्त्रों की आहुति दो फिर स्वाध्याय करो।

भोजन शान्त चित्त होकर करना चाहिए और शरीर को स्वस्थ रखने की दृष्टि से करना चाहिए, स्वाद के लिए नहीं। भोजन खूब चबा-चबाकर करना चाहिए।

भोजन को प्रभु का प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिए।

वाणी और मन को व्यवहार में शुद्ध रखने का प्रयत्न करो। १० बजे के लगभग सो जाना चाहिए।

जब दोनों अपने को सुसन्तान उत्पन्न करने के लिए पूर्णतया और योग्य समझें तो शास्त्र-विधि के अनुसार पितृ-ऋण चुकाने के भाव से

संग करे, अन्यथा दोनों आपस में शुद्ध और निःस्वार्थ प्रेम उत्पन्न करें।

भूख प्यास तो स्थूल और सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित हैं। और ये दोनों शरीर भी आपके गिलाफ हैं। जिनके बिना भी आप रहते हैं और स्वप्न तथा गाढ़ निद्रा में आप प्रतिदिन इन स्थूल सूक्ष्म शरीर रूपी गिलाफों से नित्य परे भी जाते रहते हैं। इनको गाढ़ निद्रा में थोड़ी देर के लिए जब आप भूल जाते हैं तो आपको कोई द्वन्द्व नहीं सताता। आप घबराएं नहीं। **"सब दिन होत न एक समान।"**

जिससे प्रभु में प्रेम बढ़ता जाए और संसार से उपरामता होती जाए। यही ईश्वर-भक्ति है।

ईश्वर-भक्ति का अर्थ यह नहीं कि उसके नाम की मालाएं जाप की जायें, गीता, रामायण व महाभारत का पाठ कर लिया जाय या व्रत आदि रख लिया जाय। ईश्वर-भक्ति तो यही है कि प्रत्येक कार्य ईश्वर आज्ञानुसार किया जाय और वह भी प्रभु प्रसन्नता रूपी फल के लिए, न कि धन, मान और परिवार की वृद्धि के लिए।

सुख-दुःख सब को अपने-अपने कर्मों के आधार पर भगवान् के नियमानुसार प्राप्त होंगे ही। इस में किसी का भी कुछ बस नहीं, हां कर्म ऐसे अच्छे किए जायें ताकि दुःख से बच सकें।

आपका चित्त अपवित्र आय नहीं चाहता, यह अच्छी बात है परन्तु आपका व्यवहार उन व्यक्तियों के प्रति जो अपवित्र आय करते हैं जलनपूर्ण नहीं होना चाहिए। उनके प्रति तो आपका उपेक्षा भाव ही होना चाहिए। **जो जैसा करेगा वैसा भरेगा।**

वास्तव में आपका चित्त धन तो चाहता है परन्तु धर्म पूर्वक चाहता है। जब उसमें आपको असफलता मिलती है तो आपका चित्त विचलित हो जाता है, उदास हो जाता है। और उसमें दूसरों के प्रति जलन द्वेषभाव जाग्रत हो उठता है।

भगवान् की प्राप्ति उसकी आज्ञा पर चलने से ही सम्भव है।

मन को उदास नहीं रखना चाहिए। प्रभु के किए पर राजी रहना चाहिए, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल।

दूसरे लोग यदि आपको कुछ कहते हैं तो कहने दें। 'परमहंस' अथवा 'महाशय' ये कोई खराब शब्द तो हैं नहीं जो आपको इनसे चिढ़ लगती है और यदि ये खराब भी हों तो भी शब्द ही तो हैं।

प्यारे प्रभु घट-घटवासी हैं। अतः प्राणी मात्र की प्रेमपूर्वक सेवा ही

उसकी पूजा है ।

घर के अधिकार घर की गृहिणी को ही प्राप्त होने चाहिए। सास, ननद आदि जो भी बुजुर्ग घर में हों, उनका धर्म है कि सारे घर का भार अपनी बहू को सौंप दें और अपने आप को उनको समय-समय पर प्रेम से नेक सलाह देती रहें, उनकी भलाई के लिए न कि अधिकार के लिए। यह भी मन में आपको भाव नहीं लाना चाहिए कि आप उनको पाल रहे हैं । चाहे आप धन, शरीर द्वारा उनको सहायता पहुंचा भी रहे हों या पहुंचाने में समर्थ भी हों ।

प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्म भोगने के लिए संसार में आता है। कोई उसकी सहायता करता हुआ भी दिखता है, वह भी अपना ही भला करता है तथा अपना परलोक सुधारता है । न कि उसका भला करता है जिसकी वह सहायता करता है।

वास्तविक सुख-शान्ति क्या है? वह परमपिता की गोद ही है । बस वहीं मनुष्य को पूर्ण शान्ति मिलती है।

वह गोद कहां है और क्या है? वह है प्रभु की आज्ञा-पालन करना । यानी कि जो कुछ भी दिन-रात में अनुकूल-प्रतिकूल के दर्शन होते हैं उनको प्रभु की कल्याणमयी आज्ञा समझकर प्रसन्नता से सहन करना और किसी अन्य प्राणी, वस्तु को दोष न देना । बस यह विचारधारा ही उसकी शान्तिमयी गोद है। इसी से ही पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है ।

न सुख विच गृहस्थ दे न सुख छोड़ गया ।
सुख है विच विचार दे सन्तान शरण पयां ।।

मोक्ष के लिए संन्यास जरूरी नहीं परन्तु कायिक, वाचिक और मानसिक दोषों का त्याग जरूरी है। खाने-पीने में स्वाद को छोड़ना जरूरी है। सभी प्रकार की आसक्तियों को छोड़ना जरूरी है। ये सब बातें यदि व्यक्ति घर में गृहस्थ के रूप में रहते हुए कर सके तो वह एक प्रकार से संन्यासी ही है ।

ज्योतिष भविष्य और बीती हुई बातों की विद्या तो अवश्य है, परन्तु वह सत्य उतरे, यह निश्चित नहीं है ।

सब साधनाओं का अन्त इसी में है कि चित्त में से राग, द्वेष और मोह जो पदार्थों में सुख मानकर बैठ गया है, सर्वथा नष्ट हो जाए ।

मनुष्य सुख दुःख के आधार पर जो भी पाप और पुण्य कर्म करता है वह सब उसे राग-द्वेष रूपी बन्धन में बांधकर जन्म-मरण के चक्र में

बांधते हैं जिससे उसके दुःखों की समाप्ति नहीं होती। उचित प्रयत्न करके जो प्राप्त हो उसे बांटकर खाओ। यह भगवान् को भोग लगाने का भाव है।

श्रेष्ठ चित्त उसको कहते हैं कि जिसमें ये सब प्रकार की तृष्णाएं नष्ट हो जाएं जैसे काम भोग की तृष्णा और जीवन बने रहने की तृष्णा अर्थात् यह तृष्णा कि मेरा अस्तित्व कायम रहे।

ध्यान रखें कि समाधि हमारा लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य तो श्रेष्ठ चित्त बनाना है ।

श्रेष्ठ चित्त के लिए उपेक्षा का अभ्यास भी करना चाहिए। उपेक्षा के सुख की उपेक्षा करनी चाहिए। तब ही श्रेष्ठ चित्त बनेगा।

सब से बड़ा साधन यह है कि हर समय मनुष्य सजग अर्थात् सावधान रहे कि कामवासना को उत्तेजित करने वाली कोई सामग्री एकत्रित न हो।

आप पहले अपने को सुधारें तभी दूसरे के सुधार की सोचें।

गीता के कर्म अथवा विकर्म का अर्थ—कर्म, धर्म-कर्म, यज्ञ, दान, जप, तप, व्रत और तीर्थ आदि धर्म-कर्म हैं। यम नियम भी धर्म-कर्म माने जाते हैं। इनके **विपरीत कर्म 'विकर्म'** हैं। ये पाप कर्म या निषिद्ध कर्म भी कहलाते हैं। इन्हें नहीं करना चाहिए और अकर्म का अर्थ—कर्म न करना ही नहीं, इसका निषेध गीता में है। क्योंकि कर्म के बगैर तो कोई रह ही नहीं सकता ।

अकर्म की परिभाषा यह है कि जो धर्म-कर्म हैं, यदि उनको निष्काम भाव से किया जाए, अर्थात् यदि ये केवल मन शुद्धि के लिए मन का राग-द्वेष और मोह निकालने के लिए किये जायें तो ये (किए जाते हुए कर्म भी) अकर्म हो जाते हैं क्योंकि ये मुक्तिदाता हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में वे (अकर्म=निष्काम कर्म) संसारी सुख-दुःख रूपी फल नहीं देते हैं ।

यदि धर्म-कर्म सांसारिक पदार्थों के सुखों को प्राप्त कराने के लिए किए जायें तो वे सुखरूपी फल देते हैं और मरने के बाद फल की प्राप्ति कराते हैं। अतः वे कर्म कहलाते हैं और संसारी पदार्थों के दाता हैं।

दुःख-सुख तो चित्त की प्रतिकूल-अनुकूलता का ही नाम है।

प्रभु में प्रेम किसी वस्तु के लिए नहीं होना चाहिये वह तो उन्हीं के लिए ही होना चाहिये ।

"दुःख औषधि, दारु सुख रोग भया ।" (जैसे ओषधि हमें नीरोग

बनाकर अन्नादि सुखद पदार्थों के निकट पहुंचाती है और रोग हमें उन सुखद भोजनों से दूर रखता है। ऐसे ही दुःख रूप औषधि हमें प्रभु के समीप पहुंचा कर उसके आनन्द पाने को है और सुख रूप रोग हमें संसार में ही पड़े रहने देता है और हमें आनन्द के पान का पात्र नहीं बनने देता है।)

जिन कार्यों से राग, द्वेष, मोह बढ़े, वाणी असंयत हो इन्द्रियां उच्छृंखल हों, मार–काट, चोरी–जारी में प्रवृत्ति हो तो जानो कि वह संसाराभिमुख है। इसके विपरीत जिन कार्यों व विचारों व साधनों से राग, द्वेष, मोह व इनसे रहित हो और शरीर इन्द्रियां संयत हों तो जानो तुम अन्तर्मुख हो।

"अपनी सब हालतों के लिए दोष किसी को न दें।"

संसार में जिस–जिस वस्तु व्यक्ति और स्थान से प्रभु ने संयोग कराया, उसमें ममत्व भाव न करें अर्थात् उसे अपनी सम्पत्ति न मानें। सम्पत्ति तो वह सब प्रभु की है। हमें तो मात्र उससे यथोचित बर्ताव करना है।

संसार के द्वारा वह प्रभु ही छिप कर सहारा दे रहा है, ऐसा जानकर जो संसार में कर्म करता है। उसी को ईश्वर–विश्वास कहते हैं।

ईश–भजन की विद्या—पहले शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार ईश्वरानुसार रखे। शरीर द्वारा हिंसा, चोरी और व्यभिचार न करे।

वाणी द्वारा झूंठा, कटुभाषण और व्यर्थभाषण तथा निन्दा, स्तुति और चुगली न करें तथा मन द्वारा लोभ, क्रोध और मोह न करें।

दूसरा मन को स्वस्थ रखने के लिए पाँचों प्रकार के विषयों में दोष–दर्शन का अभ्यास करें और सोचें कि असली सुख इन विषयों में नहीं वरन् प्रभु में है।

शरीर, मन से उपर्युक्त रूप में बरतने पर कहीं भीतर शान्त प्रवाह चलेगा और उसमें प्रभु–भजन ठीक से चलेगा प्रभु–कृपा भी तब होगी।

ऐसी स्थिति में ही व्यक्ति को योगमुक्त कहा जायेगा और तदनन्तर उसके द्वारा जो भी कर्म होंगे वे बन्धन में नहीं डालेंगे क्योंकि तब वे प्रत्येक अहं और सम भाव से नहीं, वरन् प्रभु की आज्ञा समझ कर करेंगे।

हम संसार में जहां–जहां और जिस–जिस परिस्थितियों में उस (प्रभु) के द्वारा रखे गए हैं एवं रखे जायेंगे, उस–उस में प्रभु की कृपा समझकर सन्तुष्ट रहें और उस–उस स्थान के अनुसार जो–जो कर्तव्य कर्म निश्चित हों उनको प्रभु–आज्ञा समझ कर करें।

दूसरा जो–जो संसार में बरताव करते हुए कष्ट वा चित्त की प्रतिकूल

अवस्थाएं आएं उनको प्रभु की देन या प्रसाद समझकर सन्तुष्ट रहें और दोष किसी को न दें।

जिसके साथ हर समय रहना हो और जिससे अनुकूलताएं अधिक मिलें वहां झुकाव न हो, यह सम्भव नहीं है, फिर चाहे वह व्यक्ति ज्ञानी भी क्यों न हो।

परन्तु ज्ञानी इन नियमों को जानता है और हर समय वह सजग रहने का प्रयास करता है कि ये अनुकूलताएं हैं, ये भी सदा रहने वाली नहीं हैं और न ही वह व्यक्ति रहने वाला है जिसके द्वारा अनुकूलताएं मिलती दिखाई दे रही हैं। इसलिए वह उन अनुकूलताओं को भी प्रतिकूलताएं ही समझता है और इसके प्रति वह खूब सजग भी रहता है कि कहीं राग आसक्ति न हो जाए।

(अनुकूलता) में राग, राग से बन्धन, बन्धन से जन्म-मरण संसार का भजन दुःखों को बढ़ाता है, ईश्वर-भजन पापों से बचाता और शान्ति लाभ कराता है।

दुःख-सुख मनुष्य के पास प्रभु की आज्ञानुसार उसके अपने पाप-पुण्य कर्मों के आधार पर आते-जाते रहते हैं। इस पर मनुष्य का अधिकार नहीं है। मनुष्य का अधिकार तो अच्छे-बुरे कर्म करने तक ही सीमित है। इसलिए दुःखों को प्राप्त कर यदि कोई वाणी से नया दोष करता है तो उसका आने वाला जीवन और बिगड़ जाता है।

यदि आप सावधानी रखकर अपने मन-वाणी को निर्मल बनायेंगे और दुःखों को प्रभु-प्रसाद मानकर शेष जीवन प्रसन्नता से निकालेंगे तो आपके कल्याण का मार्ग साफ होता जायेगा।

दुःख का वास्तविक कारण व्यक्ति की अपनी तृष्णा है। उस तृष्णा को जड़ से उखाड़ने की कोशिश करनी चाहिए। इसी से सर्वदुःखों का नाश सम्भव है।

आपको यह क्यों नहीं सूझा कि अपने को निर्दोष सिद्ध करने की अपेक्षा निर्दोष बनने की कोशिश करनी चाहिए।

पदार्थों में मजा लेने का भाव या संग्रह का भाव हटा देना चाहिए। यदि स्वेच्छा से किसी वस्तु का धनादि का संग्रह हो जाए तो उसे प्रभु का मानकर भगवदर्थ किसी सुपात्र को सुसमय दे देना चाहिए।

"जन्म-जन्मान्तरों की आदतें शीघ्र नहीं हटतीं।"

भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है फल में नहीं। अर्थात् तुम अपने कर्तव्य में ही डटे रहो, फल की चिन्ता न करो। फल तो अपने आप कर्म के अनुसार समय पाकर परमात्मा के आदेश से निकलेगा ही। यह तो परमात्मा का अटल नियम है। सच्चा सुख संसार में नहीं, परमात्मा में है। कुकर्म और कुसंग से कुसंस्कार तथा सुकर्म और सुसंग से सुसंस्कार बनते हैं।

पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख होता है, यह अटल नियम है। यदि किसी को पाप करते हुए सुख प्राप्त होता हुए दिखे तो उसके उस सुख को उसके किसी पुण्य समय के पुण्य का फल ही मानना चाहिये न कि वर्तमान पाप का फल।

गेहूँ बोने से गेहूँ ही उत्पन्न होता है चना नहीं। यदि गेहूँ के खेत में चने भी उत्पन्न हुए देखें तो उसे चने के बीज का ही फल मानना चाहिये, न कि गेहूँ के बीज का।

घृणा तो किसी प्राणी से भी नहीं करनी चाहिये, परन्तु बुरे गुण, कर्म और स्वभाव होने के कारण अपने को बुरे, कर्म और स्वभाव वाले व्यक्तियों से बचाना ही होगा। उनका संग नहीं करना होगा। अतः साधकों को चाहिए कि वे इस संसार के रहस्यों को समझने के लिए अपना चिन्तन, मनन, ध्यान आदि सभी क्रिया-कलापों को परमेश्वर के मुख्य नाम ओ३म् पर केन्द्रित करके किया करें। किसी गीतकार ने ठीक ही कहा है-

मुझ में ओम् तुझ में ओम् सब में ओम् समाया।
सब से कर लो प्यार जगत् में कोई नहीं पराया॥



ओङ्कारमय जगत्

ईश्वर के सर्वोत्तम ओ३म् नाम पर सैद्धान्तिक प्रमाणों के साथ ओङ्कार–महिमा का भी वर्णन यहीं पर किया जा रहा है। किसी गीतकार ने ठीक ही कहा है–

अक्षर ओम् अनादि अपार, जगत् पिता सब के आधार।

सब से प्राचीन ग्रन्थों में वेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः वेद, दर्शन, उपनिषत्, पुराण, बौद्ध एवं जैन मत, बाईबल, कुर्आन, अक्षर–विज्ञान, आंग्लभाषा, रेखागणित और पारसी मतावलम्बी के सिद्धान्तों का उल्लेख क्रमशः इस प्रकार है–

१. **ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं–स्मर।** (यजु० ४०।१५)

२. **ओ३म् खं ब्रह्म।** (यजु०४०।१७)।

३. **मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु। विश्वे देवास इह मादयन्तामो३म् प्रतिष्ठ॥**
(यजु० २।१३)

४. **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥**
(ऋ० १।१६४।३९)

५. **ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत।**
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥ (ऋ० १।३।७)

६. **परमे व्योमन्।** (अथर्व ५।१७।६ अ० ६।१२२।१, अ० ७।५।१)

७. **तस्य वाचकः प्रणवः।** (योगदर्शन)। उस वाच्य का वाचक प्रणव अर्थात् ओ३म् है।

८. सारा माण्डूक्योपनिषद्–ओ३म् की व्याख्या में लिखा गया है। व्याख्या के लिए देखो पं० श्री० गुरुदत्त विद्यार्थी की ग्रन्थावली।

९. **तस्माद् यज्ञात् सिद्ध्यर्थं मन्त्रमोङ्कारनामकम्।**
इतः प्रजापतिं मामकं मानभञ्जनम्॥
(शिवपुराण १०।१५)

ज्ञानी सिद्ध्यर्थ ओंकार नाम जपा करे। इससे अभिमान का नाश होगा।

१०. **ओङ्काररूपो भगवान् यो वेदादिप्रतिष्ठितः। यं सदा मुनयो**

देवा स्मरन्तीन्द्रादयो हृदि। ओङ्कारस्वरूपो भगवानुक्तस्तु गण-नायकः। यथा सर्वेषु कर्मसु पूज्यते सो विनायकः।। (गणेशपुराण)

अर्थ—भगवान् ओंकार रूप से वेदादि में प्रतिष्ठित हैं। इन्द्र देव तथा मुनि सब अपने हृदय में इस ओंकार वाच्य का स्मरण करते हैं। ओंकार रूप भगवान् सब का नेता है इसलिए गणनायक कहाता है। सभी कार्यों के प्रारम्भ में यह पूजा जाता है क्योंकि यह सत्य पथप्रदर्शक अर्थात् विनायक है।

११. ओम् मनी पदमो होम्। हृदय कमल में ओम् रूप मणि है। (बौद्धधर्म)

१२. ओ३म् श्री वीतरागाय नमः। ओ३म् नमः सिद्धेभ्यः। पञ्चा-ध्यायी। ओ३म् नमोऽनेकान्ताय।। आप्तमीमांसा और परीक्षा–मुख। ओ३म् श्री वीतदोषाय नमः। ओ३म् अर्हं नमः; एँ नमः। ओ३म् नमो अरिहन्ताणम्। विविध।। (जैन धर्म)

१३. AMEN-AMEN- आमीन् "गीत" ८९/५२; ७२/१९
यह ओम् का ही अपभ्रंश रूप है। (बाईबल)

१४. अलिफ, लाम, मीम्– ये तीनों अक्षर मिलकर "ओम्" हो जाता है। 'अलम' में 'ल' का लोप होकर ओ३म् रह जाता है 'ल' अक्षर का लोप अर्बी जुबान के कायदे से होता है। 'कमरुल्दीन' नाम का उच्चारण 'कमरुद्दीन' हो जाता है। सिवाय इसके एक बात और भी है कि कुर्आन् में इन ३ अक्षरों का अर्थ प्रकट नहीं किया गया है। इस्लाम के विद्वान् मनमाना अर्थ लगाते हैं जो ठीक तौर पर किसी को स्वीकृत नहीं है। इस का कारण यही है कि 'अलम्' ओम् शब्द का विकृत रूप है। अतः इसका सही अर्थ इस्लाम के विद्वानों को ज्ञात हो ही नहीं सकता है। इस का सही अर्थ केवल वेदानुयायी ही जानते हैं और वह है अ+उ+म्। (कुर्आन्)

जितने भी पौराणिक देवता हैं पुराणों ने उनमें से एक को भी निर्दोष नहीं छोड़ा है। एक न एक दोष अवश्य लगाया है परन्तु ओंकार शब्द के वाच्य को सर्वथा निर्दोष छोड़ा है यह पुराणकर्ताओं ने बड़ी कृपा की है।

अक्षर–विज्ञान अ+उ+म् में अ अक्षर व्यञ्जनों में व्यापक है जो व्यापक ईश्वर का प्रतीक है सब भाषाओं में पहले लिखा जाता है और अपना अस्तित्व सब में सदा एक सा रखता है। अतः यह ईश्वर का प्रतीक उ जीव का प्रतीक, म् प्रकृति का प्रतीक है। भाषा के रूप में

'ओ३म्' अव्यय है। जैसे ईश्वर सदैव एक सा रहता है ऐसे यह शब्द सब रूपों में एक सा रहता है। (अक्षर-विज्ञान)

अंग्रेजी भाषा में ईश्वर के गुणों को 'ओ३म्' नाम के साथ प्रकट किया है। यथा–

Omnipresent–ओमनी प्रेजेण्ट–सर्वव्यापक।
Omnipresence–ओमनी प्रेजेन्स–सर्वव्यापकत्व।
Omnipotent–ओमनी पोटेण्ट–सर्वशक्तिमान्।
Omnipotence–ओमनी पोटेन्स–सर्वशक्तिमत्त्व।
Omniscient–ओमनी शियेण्ट–सर्वान्तर्यामी।
Omniscience–ओमनी शियेन्स–सर्वान्तर्यामित्व।
Omega–ओमेगा–ग्रीक भाषा के प्रथम अक्षर 'अ' का नाम।
Omen–ओमेन–शुभ चिह्न।
Omnific–ओमनीफिक–विश्वकर्मा। (आंग्लभाषा)

स्वस्तिकाः–卐 यह रेखागणित में स्वस्तिका ओ३म् का प्रतीक है। (रेखागणित)

जन्दावस्ता में **'ओ३म्'** को **'होर्मज्दा'** कहा गया है, यह ओम् का अपभ्रंश है। होर्मज्दा का अर्थ ईश्वर है। (पारसी मतावलम्बी)

ओ३म्–इस का धातु–"अव रक्षणे" है जिसके उन्नीस अर्थ हैं। यथा–

१. **रक्षण**–वह सर्वरक्षक है।
२. **गति**–ज्ञान, गमन और प्राप्ति वाला है।
३. **कान्ति**–जीवों की इच्छा पूर्ति करने से कान्तिमान् है।
४. **प्राप्ति**–आनन्द स्वरूप होने से सब के लिए प्राप्तव्य है।
५. **तृप्ति**–सब जीवों के लिए हर्षोत्पादक है।
६. **अवगम**–मंगल स्वरूप मोक्ष का दाता है।
७. **प्रवेश**–सूक्ष्मतम होने से सब की अन्तरात्मा है।
८. **श्रवण**–गुप्त प्रकट शब्दों का श्रावक है।
९. **स्वाम्यर्थ**–स्वयं सिद्ध स्वामी है।
१०. **याचना**–सब की याचना का स्थान है।
११. **क्रिया**–ज्ञानपूर्वक क्रिया का दाता है।
१२. **इच्छा**–मनोवाञ्छित इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है।
१३. **दीप्ति**–सब को ज्ञान से प्रकाशित करने वाला है।

१४. **अवाप्ति**–शत्रुओं से रक्षा करने वाला है।
१५. **आलिङ्गन**–सदा सभी का आलिंगन करने वाला है।
१६. **हिंसा**–दुष्टों का संहारक है।
१७. **दान**–दान की प्रवृत्ति को प्रेरित करने वाला है।
१८. **भाग**–सभी प्राणियों को यथोचित भाग देने वाला है।
१९. **वृद्धि**–समस्त जड़ चेतन जगत् की वृद्धि करने वाला है।

महर्षि दयानन्द की मान्यता है कि ईश्वर का सर्वोत्तम नाम "ओ३म्" है। नासदीयसूक्त में "तद् एकम्" पद से जिस एकाक्षर ब्रह्म का संकेत किया गया है। वह एकेश्वरवाद का द्योतक है। अन्यत्र उसे "एकं सत्" पद से भी अभिहित किया गया है।

एकं सत् पद से अभिहित जिसे विप्र मेधावी, ऋषिगण, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, ब्रह्मा, विष्णु, मनु, प्रजापति, प्राण, हिरण्यगर्भ, रुद्र आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। वही एकमात्र जगदीश्वर है, जिसका मुख्य नाम ओ३म् है।

अकार का सम्बन्ध यजुर्वेद से है, यजु० का कर्म से और कर्म का ऐहलौकिक अभ्युदय से अतः अकारैक–मात्रिक ओ३म् रूप एकाक्षर ब्रह्म की उपासना ध्यान करने वाला लौकिक अभ्युदय का भागी होता है। वह मृत्युपर्यन्त पुनः मर्त्यलोक में जन्म लेता है। उकार का सम्बन्ध सामवेद से है। साम का सम्बन्ध उपासना और उपासना का अन्तरिक्ष से। अतः अ तथा उ रूप द्विमात्रिक ओ३म् रूप द्व्यक्षर ब्रह्म की उपासना ध्यान के करने वाला सोमलोक, चन्द्रलोक (पितृयान को प्राप्त होता है और यावत्पुण्य चन्द्रलोक में आनन्द का उपभोग कर पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्यलोक में उत्तम योनि में पैदा होता है। म् का सम्बन्ध ऋग्वेद से है और ऋक् का ज्ञान से और ज्ञान का मोक्ष से। अतः अ+उ+म् रूप त्रिमात्रिक ओ३म् रूप त्र्यक्षर ब्रह्म की उपासना, ध्यान करने वाला सूर्यलोक (देवयान) को प्राप्त करता है। **स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तैनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते, स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति॥**

निष्कर्ष यह है कि वह नामोपासक यदि एक मात्रा का ध्यान करता है, नाम को केवल वाणी द्वारा जपता है तो वह भक्त उसी वाचिक स्मरण से जागृत होकर शीघ्र ही परजन्म लेता है। उस उपासक को स्तुतियां मर्त्यलोक में ले जाती हैं। भगवान के भजन से ऐसे भक्त को मनुष्य जन्म

मिलता है तब वह उपासक मनुष्य जन्म पाकर तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर नाम स्मरण की महिमा को अनुभव कर लेता है।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ।।

यदि कोई भक्त द्विमात्रा से परमात्मा के नाम का ध्यान करे, वाचिक और मानसिक दोनों मात्राओं से नाम का जप करे तो वह उपासक मन में लीन होने लगता है, उसका मन स्थिर हो जाता है। ऐसी एकाग्रता वह आकाशस्थ सोमलोक को यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा ले जाया जाता है। वह कर्मकाण्डी सूक्ष्मलोक में वास करता है और सोमलोक में नाम जप की महिमा के, ऐश्वर्य को अनुभव करके पुनः मनुष्य जन्म में लौट आता है।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज्जीवघनापरात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः।। (प्रश्नोपनिषद् ३।५)

पुनः जो इस नाम को त्रिमात्रा से, मन, वचन, कर्म के द्वारा ओ३म् इस अक्षर से परब्रह्म पुरुष का चिन्तन करे तो वह उपासक प्रकाशस्वरूप सूर्यलोक को प्राप्त होता है। उसका आत्मा आत्मिक प्रकाश से सूर्य में मग्न हो जाता है। जैसे सांप कैंचुली से छूट जाता है, इसी प्रकार निश्चय से वह उपासक पापों से मुक्त हो जाता है। उस अवस्था में वह साम मन्त्रों द्वारा स्तुति से ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है। तब वह इस मर्त्यलोक से ऊपर, पर से परमोत्तम ब्रह्माण्डपति पुरुष को देखता है। ऐसा ध्यानी उपासक परमेश्वर के परस्वरूप-वाचक के वाच्य को प्राप्त करता है।

यही अक्षर ब्रह्म है, यही वह परब्रह्म है जो उसे जानता है वह अभीष्ट को प्राप्त करता है। वह अणु से भी सूक्ष्म और महत् से भी महान् है। जो उस शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि से रहित अनादि और अनन्त जानकर उपासना करता है वह मृत्यु के दुःख से छूट जाता है।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वम् ओङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव । (माण्डूक्योपनिषद्-१)।

यह अक्षर ब्रह्म ही ओम् पद वाच्य है, यह भूत-भौतिक प्रपञ्च उसी अक्षर ओ३म् का विस्तार व्याख्यान है। भूत, भविष्य और वर्तमान

तीनों कालों में स्थिर जगत् ओङ्कार ही है जो कुछ त्रिकालातीत है वह ओंकार ही है।

'तत् एकम् यही परात्पर है । अतः ऋषि कहते हैं-

"तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास"—उस से उत्कृष्ट कोई तत्त्व नहीं था। इस अध्यक्षर और अधिमात्र ओंकार को ऋषि ने सूक्त में नहीं कहा है । ऐसा 'परम् व्योम'—परम+वि+ओ३म् शब्द से निर्दिष्ट किया है। तुरीय ब्रह्म को 'परमे व्योमनि' परम व्योम में स्थित बताया गया है। (अमात्रश्चतुर्थो) वह अमात्र है मात्राओं से परे है ।

यजुर्वेद में कहा गया है कि ओ३म् आकाशवत् व्यापक होने से "खम्"और सब से बड़ा होने से ब्रह्म है। इसी ओम् की उपासना का स्मरण करना चाहिए । **ओ३म् (क्रतो) स्मर** । (यजु:० ४०।१५)

इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के अन्तर्गत **"ओमासः"** पद द्रष्टव्य है। जो सन्धि-विच्छेद होने पर 'ओम्+आसः' बन जाता है। इस प्रकार "ओमासः" का अर्थ ब्रह्म के पास बैठने वाला अथवा ब्रह्मज्ञानी हुआ। (ऋक्-१।३।७)

अकारं चाप्युकारं च मकारम् च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ।। (मनु० २।७६)

मनुस्मृति में अ, उ, म् मिलकर बने ओ३म् का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि प्रजापति ने जिस प्रकार दूध से मक्खन निकाला जाता है, उसी प्रकार ओ३म् शब्द के अ, उ और म् इन तीन अक्षरों को और भूः, भुवः, स्वः इन तीन गायत्री मन्त्र की व्याहृतियों को ऋक्, यजुः, साम रूप (तीनों वेदों के) दूध से मक्खन के रूप में निकाला है।

विश्व का सब से प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य वेद है और उसमें अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवों की स्तुति की गई है। इसी आधार पर वेद में बहुदेवतावाद या अनेकेश्वरवाद का अन्वेषण अनेक विद्वान् करते रहे हैं। महर्षि दयानन्द इस स्थापना से पूर्णतः असहमत हैं, वेदों में अनेक ईश्वर मानने वालों को वस्तुस्थिति से अवगत कराते हुए लिखते हैं कि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिसमें अनेक ईश्वर सिद्ध हों किन्तु यह तो लिखा है कि—'ईश्वर एक है ।'

स्वामी दयानन्द की मान्यता है कि देवता अनेक हैं परन्तु सर्वशक्तिमान् ईश्वर तो एक ही है। उनका कहना है कि देवता दिव्यगुणों से युक्त होने के कारण कहलाते हैं। जैसे कि ऋग्वेद के एक मन्त्र में

कहा गया है कि जिसमें देवता स्थित हैं, वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है। यह उनकी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से महादेव इसलिए कहलाता है कि वह सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्ता, न्यायाधीश, अधिष्ठाता है। "त्रयस्त्रिंशता" यजुः० १४।३, इसकी व्याख्या शतपथ में की गई है। तैंतीस अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र सब सृष्टि के निवासस्थान होने से आठ वसु, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये ग्यारह "रुद्र" इसलिए कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं तब रुलाते हैं। संवत्सर ये बारह माह आदित्य इसलिए कहलाते हैं कि ये सब की आयु ले जाते हैं। विद्युत् बिजली का नाम इन्द्र इस हेतु से है कि वह परमैश्वर्य का हेतु है। यज्ञ को "प्रजापति" कहने का कारण है कि जिससे वायु, वृष्टि, औषधि की शुद्धि विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है। ये तैंतीस पूर्वोक्त गुणों के योग से देव कहलाते हैं। इनका स्वामी सब से बड़ा होने से चौंतीसवां उपास्य देव ईश्वर शतपथ के चौदहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा है। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति इन तैंतीस देवों का अधिपति महादेव परमेश्वर है।

ये तैंतीस देव ईश्वर नहीं हैं विशिष्ट शक्ति सम्पन्न होने से पञ्चभूत चन्द्र-सूर्य, नक्षत्र आग आदि देव कहे जाते हैं।

इन्द्र, मित्र, वरुण आदि शब्दों का प्रयोग विभिन्न गुणों के कारण होने से एक ही परमेश्वर के लिए उपयुक्त हुआ है। इसका प्रतिपादन सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में किया गया है। स्वयं वेद इसका प्रमाण है। (ऋक्-१।१६४।४६)

इस सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि वेद में बहुदेवतावाद या सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादन है तो यह सर्वथा वैदिक भावना के विपरीत होगा। सम्पूर्ण वेद में एकेश्वरवाद का प्रबल प्रतिपादन प्राप्त होता है ।

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या।।

(ऋक्-२।१।३)

इस मन्त्र में अग्नि को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि-हे अग्निदेव ! तू हीं इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, रुद्र, पूषा, द्रविणोदा, सविता, भग है ।

स्पष्ट ही यहाँ ये सब नाम प्रधानरूप से अग्नि पद वाच्य सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के हैं तथा उसके अनेक गुणों को सूचित करते हैं। अथर्ववेद ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि परमेश्वर एक है, एक होकर सब को व्यापता है-सर्वव्यापक है, वह एक ही है। उसे दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां, छठा, सातवां, आठवां, नौवां, दसवां नहीं कहा जा सकता। वह एक ही है। (अथर्ववेद १३।४।१६-१९, २१)

यजुर्वेद ३२।१ में कहा है कि वह एक ब्रह्म अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्रमा है। वही ब्रह्म, आपः और प्रजापति के नामों से पुकारा जाता है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता-आपः स प्रजापतिः॥

सामवेद में भी परमेश्वर को एकमात्र पूज्य कहा है-

समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषन्तं वर्तनीरनु वावृते एक इत् ॥

(साम० ४।२।९३)

हे मनुष्यो ! तुम सब सरल भाव और आत्मिक बल के साथ प्रभु की ओर उसका भजन करने के लिए आओ, जो समस्त मनुष्यों में एक ही अतिथि सम पूजनीय है। वह सनातन है और प्राणियों के अन्दर भी व्याप्त हो रहा है। ज्ञान, कर्म और भक्ति आदि उसी की ओर जाते हैं। वह निश्चय से एक ही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि परमसत्ता ईश्वर तो एक ही है। उसी परम सत्ता को पृथक्-पृथक् गुणों के कारण पृथक्-पृथक् नामों से स्मरण किया गया है।

अग्नि, वायु, आदित्य, इन्द्र, वरुण आदि जितने भी देवों के नाम हैं वे सब परमात्मा के वाचक हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि सत् रूप प्रभु को ज्ञानी अनेक प्रकार से बोलते हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, सत्, यम, मातरिश्वा आदि सब उसी के नाम हैं ।

यह सारा जग उसमें समाविष्ट है। वह एक ही है। सब तेजस्वी पदार्थ उसमें केवल एक बनकर रहते हैं ।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ॥ (यजु० ३२।२)

वह गतिमान् भी है और स्थिर भी। (तदेजति तन्नैजति० यजु० ४०।५) उस तेजस्वी विद्युत रूप से सब गति उत्पन्न हुई है परन्तु उसको

ऊपर, नीचे या मध्य से सब प्रकार से कोई भी ग्रहण नहीं कर सकता है।

वह अद्वितीय, ईश्वर स्थिर होते हुए भी मन से भी बढ़कर गतिमान् है। वेगवान् है। **अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।**

(यजु० ४०।४)

उस ईश्वर को इन्द्रियां नहीं प्राप्त कर सकतीं अर्थात् इन्द्रियों से यह जाना नहीं जा सकता। वह दूसरे दौड़ने वालों को भी लांघ जाता है। इसी में रहने वाला मातरिश्वा जीव। अपने कर्मों को धारण करता है। इसी ईश्वर के एकमात्र जगत् का आदिस्त्रष्टा होने का प्रमाण ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में मिलता है। जहाँ कहा गया है कि (**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे०**) तेजस्वी पदार्थों को अपने गर्भ-उदर में धारण करने वाला परमात्मा सृष्टि के पूर्व था। वह उत्पन्न हुई सृष्टि का एक ही स्वामी था जिसने भू और द्युलोक को धारण किया है।

वही एक आत्मा को देने वाला, बल का देने वाला है, जिसकी छाया अमृत अच्छाया मृत्यु है। इस आनन्दमय प्रभु की पूजा करनी चाहिए।

(ऋक्-१०।१२।२)

उस एक के लिए अथर्ववेद में आया है कि वह हमारा पिता है, रक्षक है, जनिता=उत्पादक है, प्रेरक और बन्धु है, वह सब भुवनों और स्थानों को जानता है। वह सब देवों का **नामधा**=नाम धारण करने वाला ईश्वर है। उसी के विषय में सब प्रश्न पूछे जाते हैं।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋग्वेद १०।१२१।३)

वह ईश्वर ही प्राण धारण करने वाले, हलचल करने वाले जगत् का एक ही सम्राट् है। अपनी महान् शक्ति के कारण जो द्विपाद और चतुष्पाद हैं उन दोनों का भी वह एक ही स्वामी है।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

ऋ० १।८९।१०

अन्यत्र भी उस परमपिता परमश्वेर को अदिति कहा गया है तथा उसे ही द्युलोक, अन्तरिक्ष, माता-पिता, विश्वेदेवा पञ्चजन माना गया है तथा यह भी कहा गया है कि वह सब कुछ है। वह अदिति ही है तथा जो होगा, वह भी अदिति है।

अनादि ओ३म् का स्वरूप

संसार के रचयिता जगदीश्वर के इस सर्वोत्तम नाम में तीन अनादि सत्ता समायी हुई हैं, जिनका विस्तार से धारा प्रवाह शैली में विवेचन किया जा रहा है। जो कि निम्नलिखित है–

तीन अनादि सत्ता–	ईश्वर	जीव	प्रकृति
उनके प्रतिनिधि अक्षर–	अ	उ	म्

अ अमृत है, म् प्रकृति है। उ अमर 'म्' के पास रहता रहेगा तो यह सतत मरता रहेगा, जन्मता रहेगा। अगर यह अ के पास जायेगा तो अमृत हो जायेगा–अमर हो जायेगा।

'अ' स्वर अक्षर है। 'म्' व्यञ्जन है, व्यञ्जन बिना स्वर के खड़ा ही नहीं हो सकता, उस के सहारे के बिना बोला ही नहीं जा सकता। जो 'म्' अन्य के आश्रय है वह तुझे अद्वितीय आश्रय कैसे दे सकता है? उस को तो 'अ' प्रभु देता रहेगा तो निश्चय से वह तुझे 'उ' को कुछ दे सकेगा।

'उ' का मुख अ की ओर है पर कभी अ उ म् में उ का उल्टा पृष्ठ हो जाता है तो बड़ी हानि होती है पर स्वाभाविक रूप से अपनी चेतन बिरादरी की ओर ही उस का मुख है उधर को बढ़ेगा तो अ+उ म्=ओम्। 'उ' का 'ो' बन जायेगा 'म्' के पास 'उ' पड़ा रहेगा तो ऐसा ही सदा बना रहेगा। आप कहोगे इस के संग से पुत्र–पौत्रों वाला, स्त्री–पुत्र वाला, दुहित–दौहित्रों वाला, मोटा–ताजा धन–धान्य वाला, कार–कोठी वाला इत्यादि रूप में कितना बढ़ गया। पर सच पूछो यह यों कितना भी बढ़ेगा 'उ' का उ ही रहेगा।

धियों जमाई ले गए बहुएं ले गईं पूत।
तू रहा ऊत का ऊत ॥

आप कहोगे पुत्र तो साथ रहता है बहू भी मर जाती है। फिर भी कार, कोठी, जमीन–जायदाद आदि तो रहती हैं इत्यादि। मरने पर सब जाने पर 'उ' का 'उ' खाली आया खाली, वैसा का वैसा ही रह जाता है पर अगर वह 'अ' की ओर जाता है तो अ के संग 'ो' बन कर अमर हो जाता है।

तू नेकी में जाग बुराई में सो जा ।
तू मुँह मोड़ माया से भगवान् का हो जा ॥
जो दुनिया का दिन हो तेरी रात हो ।
जो दुनिया की हो रात तेरा दिन हो ॥
(या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।)

'अ' अविनाशी है 'म्'–माया– प्रकृति विकृति विनाशी है। नश्वर से हट कर अविनाशी का पल्ला पकड़।

अ 'उ' को कहता है–तू मेरी ओर आ, प्रकृति की ओर मत जा। पर 'अ' बुलाता है तब भी 'म्' प्रकृति कहती है तू 'अ' की ओर मत जा। मेरे पास रह मैं तुझ को बहुत कुछ खिलाऊंगी, पिलाऊंगी, पहनाऊंगी, ओढ़ाऊंगी, घुमाऊंगी, फिराऊंगी। पत्नी, पुत्र, पौत्र, दुहित, दौहित्र दूंगी। नानाविध खेल तमाशे दिखाऊंगी।

'उ' जीव का मुख 'अ' अविनाशी अमृत स्वरूप प्रभु की ओर है उस को कुछ जान कर मुस्कराता भी है पर सोचता है इस के पास न दूध, न फल, न टॉफी, न खिलौने, न कपड़े, न लत्ते कुछ भी तो उसमें आकर्षण नहीं । सोचता है 'म्' प्रकृति रूप माँ के पास ही दूध, फल, नानाविध वस्त्र, जमीन–जायदाद आदि हैं । अतः उस की गोदी से हटता नहीं । उसमें बैठ कर कभी सुख–दुःख आदि पाता है, पर अगर 'अ' की ओर आगे बढ़ जाता है तो आनन्द विभोर हो जाता है।

अ उ म् 'उ' जीव जब सतत ध्यानी बन कर अ की ओर देखता रहता है, उस पर सोचता, विचारता, मनन करता रहता है। सतत स्नेह श्रद्धा भक्ति से उस परम पिता को निहारता रहता है तो उसकी समझ में यह आने लगता है कि यह 'म्' मेरी माँ भी तो 'अ' पिता प्रभु की कृपा से ही इस घर में आयी है । यह दूध, फल, कपड़े–लत्ते, नानाविध पदार्थ भी प्रभु=पिता की कृपा–व्यवस्था से सब कुछ आया है। अगर सूर्य को वह प्रकाश न देता तो यह बिचारा हम को क्या देता। यह प्रकाश प्रकृति रूप माँ (सूर्य) का अपना नहीं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।) इस माँ के स्तनों में जो दुग्ध है यह भी उस पिता की व्यवस्था से ही बना है और मुझे मिला है। फिर ऐसे थर्मसों में कवोष्ण रखा कि बच्चों का मुँह भी न जले और शीतल न होने से बाई भी न करे । यह बादाम, मूंगफली, गन्ना, चीकू, केला, अमरूद, सेब आदि उसकी व्यवस्था से ही यह माँ दे पाती है। अगर पिता अर्थार्जन कर यह सब न लाए–इनकी व्यवस्था न करे तो

यह माँ बिचारी कहाँ से बच्चों को खिलाए, पिलाए, पहनाए, ओढ़ाए। पहले यह बच्चा घर में माँ के पास ही रहता है। यही उसे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने को सब देती है। सोचता है इस खूसट खुश्क पिता के पास मेरे लिए क्या धरा है? पर धीरे-धीरे पता लगा कि यह सब इसी की कृपा-व्यवस्था का परिणाम है तो एक दिन प्यार से उनके साथ दुकान पर या फर्म या फैक्ट्री में चला गया तो 'अ' पिता के पास जाने पर 'उ' से 'ी' बन गया और फलस्वरूप फर्म के नाम का नाम पड़ गया—भगवान्दास मोहनलाल एण्ड सन्स। अरे बाप के पास तो वह सब है जिस से घर, दुकान, कार, कोठी, खाने-पीने, रहने के सब साधन आते हैं। फिर वह इतना मस्त हो जाता है पिता के पास बैठ कर कि माँ रोटी के लिए घर बुलाती है तब भी वह घर नहीं आता है। कहता है—माँ दुकान में ही अपना प्यार या रोटी भेज दे, पर घर नहीं आता। बूढ़ा बाप तो घर आ जाता है पर पुत्र नहीं आता। उसको धन-वैभव में मजा आ गया। फिर माँ विवाह कराती है फिर फंस जाता है पर उसे धन की लत फिर उधर ले जाती है। एक नौजवान मुझे मिला मैंने कहा कि तुम घर रोटी खाने चले जाया करो। मामा जी भूख तो खूब लगती थी कभी खाना भी नहीं खा पाता दुकान पर चाय आदि मंगा लेता हूं, पर मामा जी जब रात को पैसे गिनते हैं तो इतनी तृप्ति मिलती है जितनी कि रोटी से भी नहीं मिलती। भाई जी दिल्ली की कोठी छोड़ ऐश्वर्य में मस्त ऐसे ही प्रभु के पास रहते हुए जब अनन्त ऐश्वर्य मिलता है तो इस खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने को भूल जाता है। इस खान-पान से फिर वह तृप्ति नहीं मिलती जो प्रभु के उस अनन्त ऐश्वर्य से मिलती। अतः उसमें मग्न हुआ-हुआ खान-पान सब भूल जाता है, माँ प्रकृति को भूल जाता है। 'म्' की गोद में कभी प्यार से बैठने वाला उससे न हटना चाहने वाला जब पिता के ऐश्वर्य में-प्रभु के अनन्त ऐश्वर्य रूप आनन्द में डूब जाता है तो फिर माँ प्रकृति पुनः पुत्र पुकारती है तो भी वह माँ प्रकृति के पास नहीं जाकर प्रभु के आनन्द में ही डूबा रहता है। फिर वह माँ से आँख बन्द कर लेता है। माँ की ओर देखता ही नहीं है पिता के पास रहकर उसमें और उसके ऐश्वर्य रूप आनन्द में डूबा रहता है। अब प्रकृति रूप माँ बुलाती है, पुकारती है पर उसकी अब सुनता नहीं, माँ कहती है बेटा! तेरे लिए खीर बनाई, हलवा बनाया, सेवियाँ बनाईं, अच्छे-अच्छे कपड़े सिलाए, तेरे लिए यह लाई, वह लाई पर अब वह न उसकी ओर देखता है न ही उसकी सुनता है।

अब तो प्रभु को ही देखता, उसी की ही सुनता, उसी से ही बात करता है। व्यापार की ही बात करता, भूल से अगर वह घर माँ के पास आ भी गया तो वहाँ भी माँ से बात न कर पिता से ही बात करता है। ऐसे साधक समाधि से उठकर 'म्' प्रकृति रूप माँ के पास आ भी जायें थोड़े दूध, फल आदि ले भी लें 'म्' प्रकृति रूप माँ के आग्रह पर, तब भी वह बात करता तो प्रभु पिता की ही है, 'अ' की–अविनाशी प्रभु की। उसी के ही गीत गाता, उसी का ही गुणगान करता है और व्यवहार काल में **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र।'** घर में लोक–व्यवहार में भी 'अ' की, ईश्वर–प्रभु की एवम् उसके परमैश्वर्य आनन्द की ही बात करता है। जैसे बहुत कहने से पुत्र दुकान से आकर भी पिता की ऐश्वर्यवान् प्रभु की ही बात करता है वह दीवानचन्द श्री गंगाविशन से ही जुड़ना चाहता है। वैसे वह श्री गंगाविशन दीवानचन्द ही बनना चाहता है और श्रीमती रामपुत्री दीवानचन्द नहीं बनना चाहता। ऐसे ही साधक भी प्रभु–आश्रित, प्रभु–शरण बनना चाहता है, मातृ–आश्रित नहीं।

उससे कोई पूछता है कि २+२=४ तो वह अब बोलता है २+२=४ रुपये। अब वह जब भी बात करता है रुपये पैसे की ही करता है। सोलह आने यह बात सच्ची है। रुपये में आठ आने मेरे, ४ आने उसके।

पहले जब माँ के पास था तो हर समय खाने–पीने, पहनने–ओढ़ने की बात, माँ रोटी, माँ चीजी, माँ दूधू, माँ कुछ खाने को दो, माँ भूख लगी है। तब माँ पूछती–बेटा २+२=४ तो वह बोलता माँ २+२=४ रोटी, २+२=४ अखरोट मुझे २ नहीं २+२ लड्डू दो, माँ २+२=४ केले। माँ दो नहीं चार केले, माँ एक नहीं दो केले, माँ एक नहीं, मैं तो दो केले लूँगा। माँ मैं एक नहीं बल्कि १+१=२ टॉफियाँ लूँगा। मैं यह पेंसिल भी लूँगा वह पेंसिल भी। पर अब दुकान पर वह लाला बनकर, ला + ला दो नहीं चार रुपये। भाई साहब ! मैं दस रुपये से कम नहीं लूँगा। ऐसे ही साधक **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र।'** भी उसी प्रभु एवम् उसी के अनुपम आनन्द की ऐश्वर्य की ही सतत बात करता है। बैठता, उठता, आता–जाता सर्वत्र भोग और प्रभु उसके परम ऐश्वर्य की ही बात करता है।

शास्त्रों में सर्वत्र जो उपदेश है वह 'उ' के लिए ही है न वह 'अ' के लिए न ही 'म्' के लिए। उनके लिए प्रार्थनाएं हैं (**या पृथ्वी नोऽनृक्षरा, स्वधिते मैनं हिंसीः**) तो वह उस्तरे के माध्यम से उस्तरे से मुण्डन करने वाले नाई के प्रति है।

'उ' के लिए ही उपदेश है—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। जागृहि त्वं, पितृषु जागृहि त्वम्। मनुर्भव, मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। 'उ' जीवार्थ उपदेश—अर्चत प्रार्चत। मा भेम। ब्रह्मार्चत, इन्द्रमर्च। भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये। अतः इस को अपने को बहुत ऊपर उठाना है। 'अ' उ, म् 'अ' कहता है बेटा इधर आ, 'म्' माँ कहती मत जा क्या करेगा पिता के पास मैं तुझे यह—वह खिलाऊँगी पिलाऊँगी। 'म्' माँ का जी बिना बच्चों के लगता नहीं, अतः प्रभु उसे नित्य नये बच्चे देता रहता है। कुतिया को भी, सुअरनी को भी, इस नारी को भी। 'अ' की ओर मुख रखेगा तो स्थितप्रज्ञ रहेगा, स्थितधीर्मुनि रहेगा, उससे मुख मोड़ लिया तो 'म्' में ही डूबा रहेगा।

'उ' तू 'अ' चेतन तत्त्व परमात्मा की ओर जा रहा है तेरे को तृप्ति मिलेगी। 'म्' के पास तृप्ति नहीं मिलेगी जितना खा लो, पी लो, पहन लो, ओढ़ लो, देख लो, सुन लो, खेल लो, कर लो, तुम को तृप्ति नहीं मिलेगी।

'अ' के पास रहेगा तो स्तुति—निन्दा से अभिनन्दन- अनभिनन्दन से बचा रहेगा। 'म्' के पास रहेगा तो निन्दा—प्रशंसा से बच नहीं सकता। 'अ' की ओर मुख रहेगा तो तू अडोल रहेगा। 'म्' के पास रहेगा तो डुल जायेगा, मोह—ममता में फंस जायेगा।

हे 'उ' जीव! तू 'अ' में डूबा रहेगा तो तू अव्वल दर्जे का इन्सान बनेगा और 'म्' (प्रकृति) में मगन रहेगा तो मक्कार बन जायेगा।

जितना तू 'अ' की ओर बढ़ेगा उतना ही तो अव्वल दर्जे का इन्सान बनेगा। जितना 'म्' प्रकृति में मगन रहेगा उतना ही आला मक्कार बनेगा।

जपते हम ओम् हैं पर जैसे अ के बोलने पर मुँह खुलता है तो कहते हैं कि हमारे पास स्त्री, पुत्र, पौत्र, धन—वैभव, मान—सम्मान, कार—कोठी आदि प्राप्त हो जाये।

खा—खाकर थक लिये, पुत्र—पोते भी देख लिये, धन—वैभव पुत्र—पौत्र आदि से थक कर 'उ' ने कुछ मुख बन्द कर लिया पर पूरा बन्द नहीं किया क्योंकि आगे 'अ' का द्वार नहीं खुला, अतः डर है आगे कभी प्रभु न मिले तो पुत्रों से नाता तोड़ लें तो फिर ये भी न पूछें तो क्या होगा।

'अ' प्रभु 'उ' जीव को बुलाता है कि तू आ मेरे पास आ। प्रकृति 'म्' माँ कहती है तू मत जा।

'उ' जब 'अ' पिता का मनन चिन्तन करने लगा तो उसे ज्ञात हुआ कि यह मेरी माँ भी उस पिता की कृपा–व्यवस्था का परिणाम है। यह दाल–रोटी, कपड़ा–लत्ता, टाफी–काफी, कार–कोठी उसी की कृपा का परिणाम है। शाक–सब्जी आदि खाद्य सामग्रियों की पूर्ति करते हैं और माता उनको पकाकर हमें भोजन खिलाती है। ऐसा सोच कर एक दिन वह 'अ' पिता के पास गया तो दुकान, फर्म, फेक्ट्री, मिल को देखकर वह अवाक् रह गया, बड़ा खुश हुआ। जिस परम ऐश्वर्य से सब चीजें आती हैं वह तो यहीं पर हैं, आता रहा तो धीरे–धीरे पिता ने उस का नाम फर्म में जोड़ दिया– श्री गंगाविशन दीवानचन्द। आता रहा ऐश्वर्य में रुपये गिनने में इतना डूबा कि अब वह घर आता ही नहीं। माँ रोटी के लिए खीर पूड़ी हलवे के लिए बुलाती है तो वह आता नहीं कहता है माँ दुकान पर फैक्ट्री या मिल में दाल रोटी आदि भेज दे। माँ भेजती है तो खाना भी खाता जाता है पर ग्राहक से बात भी करता जाता है क्योंकि वहाँ से परम ऐश्वर्य आता है जिस से सब साधन आते हैं। खाना खाते हुए वह उस परम ऐश्वर्य धन में उपस्थित है, चाय पी रहा है डबल रोटी रस। जिसके किसी कोने में रस नहीं डुबा–डुबा कर खा रहा है पर बात ग्राहक से करता जा रहा है, नौकर को कहता जाता है–इतने दर्जन कॉपी, इतने दर्जन पेन्सिल, इतने दर्जन पैन। ये होटल में स्वयं भी खा रहे ग्राहक को भी अबर (न खाने योग्य) वस्तुएँ आईसक्रीम आदि खिला रहे हैं पर साथ ही हीरो साइकिलों की तीसरी दूसरी खेप भेजने की भी बात हो रही है। रुपये–पैसे खाने पीने के साधन रूप ऐश्वर्य की अपेक्षा पर ऐश्वर्य रुपये पैसे में आदमी कितना मगन रहता है। घर में माँ, पिता, पुत्र को रोटी खिलाती है, खा तो वे रोटी रहे हैं पर पूछ रहे हैं, पिता कि–बेटा ! आज कितना धन आया, कितना माल बिका। पिता जी ! आज एतवार को भी मैंने ४० रिम कागज २२२ रु० रिम के हिसाब बेचा। हमें 'खाद्य पेय' पदार्थों की अपेक्षा पर–ऐश्वर्य रुपया पैसा इतना प्रिय होता है कि २+२ कहो तो बचपन में माँ बोलती बेटा बोलो २+२=४ तो वह कहता (संख्या नहीं ४) ४ रोटी, लड्डू भूख लगी है माँ कुछ खाने को दो। पर धन की आराधना में मनुष्य खाना भूल जाता है। मैंने एक राकेश को कहा–यह खाना खा लो तो तृप्त हो जाओगे, तो वह बोला–धन दबादब आता रहे तो भूख प्यास भूल जाती है। इससे जब रात को धन की गिनती करते हैं तो उस रुपये–पैसे रूप ऐश्वर्य से जो तृप्ति मिलती है वह इस खीर पूड़ी

हलवे से भी नहीं मिलती। यह तो वह ऐश्वर्य है जहाँ मनुष्य खान-पान भूल जाता है। मैंने देखा कि इधर ग्राहक हो उधर भूख लगी हो तो भूख की परवाह नहीं करेगा, ग्राहक की करेगा, कि खा तो बाद में भी लेंगे पर ग्राहक फिर आए या न आए। ऐसे मूत्र-मल विसर्जन की हाजत है पर उधर ग्राहक हो तो उस मल-मूत्र के वेग को रोक कर भी उस ऐश्वर्य का स्वागत करेगा।

हम देखते हैं वह इस रुपये-पैसे रूप पर-ऐश्वर्य में ऐसा डूबता है कि अब २+२ कहने पर बोलता है ४ रुपये। दवा लगाने पर कुछ आराम आया तो पूछने पर बोलता है मुझे रुपये में चार आने २५ पैसे आराम है। कितना काम कर लिया कितना शेष है तो कहता है रुपये में आठ आना भर-५० पैसे भर काम कर लिये, आठ आने-५० पैसे भर काम बाकी है। रुपये में मनुष्य इतना मग्न होता है कि रात को स्वप्न में खान-पान की अपेक्षा पर-ऐश्वर्य भी **"छत्री लेणी कि नहीं लेणी"**, बिरीकोट में इस पर-ऐश्वर्य रूप रुपये पैसे में इतना मग्न हुआ कि स्वप्न में 'सिरीकम सिरीकम' कर के अपने कुर्ते को फाड़ डाला।

जब मनुष्य इस पिता की फर्म के ऐश्वर्य में इतना डूबा कि खाते-पीते, सोते-जागते इसी की ही वह बात करता है। एक दुकानदार राम-राम, ओम्-ओम् भी बोल रहा है, माला भी फेर रहा है। पर बेटे को कहता है, इसे यह सौदा तोल दो, वह सौदा तोल दो। घर पर बाप-बेटे रात दिन रुपया-पैसा, रुपया-पैसा की ही चर्चा करते हैं। माँ रात-दिन रुपया पैसा-रुपया पैसा, यह पर-ऐश्वर्य-यह पर-ऐश्वर्य। बेटा कहता है- माँ! आप क्या जानो इस रुपये पैसे के महत्त्व को, एक बार तुम ने यह मजा पाया तो इस खान-पान को तू भी भूल जायेगी।

ऐसे ही जब 'उ' जीव 'अ' के पास आगे बढ़ कर उस परम प्रभु के परमैश्वर्य आनन्द को देख कर दंग रह जाता है। उस के पास जाकर 'उ' से बढ़कर 'अ' के पास 'ो' बन जाता है। उस आनन्द रूप परम ऐश्वर्य को पाकर मनुष्य इन अवर ऐश्वर्यों को भूल जाता है। खान-पान, पहराव, नहाना-धोना, बाल काटना, नीट एण्ड टाईड रहने को कपड़ा जूता आदि को भूल जाता है। प्रकृति माँ बुलाती है या साधना कुटीर में भेज देती है टिफन तो साधना है इतरत्र काल में भी ज्ञान-चर्चा, आनन्द-चर्चा, प्रभु-चर्चा। घर प्रकृति माँ बुला कर खिलाती है तो भी ज्ञान-चर्चा, प्रभु-चर्चा, परमानन्द चर्चा खाने-पीने आदि सब कार्यों में प्रभु-कृपा, प्रकृति माँ

कहती है खाने-पीने के समय तो इन बातों को छोड़ कर आराम से खाओ पीओ। तब 'अ' का भक्त 'उ' प्रभु का भक्त साधक उपासक परमानन्द भक्त प्रकृति माँ को कहता है, माँ तुम क्या जानो इस परमैश्वर्य को इस परमानन्द को इस से जो तृप्ति मिलती है वह सब इन अवर ऐश्वर्यों में कहाँ? तभी वह खाते-पीते, सोते-जागते उस परम प्रभु-परमानन्द की ही चर्चा करता है।

'अ' प्रभु की ओर बढ़ने वाला 'उ' जीव एक अजीबो गरीब, एक अद्‌भुत, एक अनुपम, एक अद्वितीय मानव-महापुरुष बनता है। 'म्' के पास ही सदा पड़ा रहने वाला मानव धीरे-धीरे लोभ-मोह में पड़कर बड़ी ही मीन मेण्टेलिटी का मनुष्य बन जाता है। धन पद आदि के लोभ मोह में अपनों के मोह आदि में अन्याय करता, अत्याचार करता, पक्षपात करता है, हेरा-फेरी करता है।

'अ' के पास 'उ'-प्रभु के पास यह साधक तब जाता है जब वह सिन्सीयर हो जाता, विवेकी हो जाता, गम्भीर हो जाता, मनन-चिन्तन करने वाला हो जाता है। माँ के पास यह जब तक रहता है तब तक वह बालक होता है, चञ्चल होता है, अस्थिर होता है। 'अ' प्रभु की ओर बढ़ते ही वह स्थिर होता है। कण्ठ में जो 'म्' का वरण करता, जो प्रकृति का वरण करता, जो प्रेम का वरण करता है पर जो 'अ' का, प्रभु का, श्रेय का वरण करता है वह बुद्धिमान् होता है।

'अ' का वरणकर्त्ता 'उ' विवेकी, 'म्' का वरण कर्त्ता अविवेकी। 'अ' का वरणकर्त्ता देवयानमार्गी 'म्' का वरणकर्त्ता पितृयानमार्गी जन्म-मरण से मुक्त हो जाने वाला, पुनः-पुनः जन्मने मरने वाला।

'अ' से 'उ'- "जीव! तू अनुव्रतः पितुः पुत्रः" अपने प्रभु रूप पिता के अनुव्रती बनो। प्रभु रूप पिता में न्याय है तो न्याय को अपनाओ, उस में दया है तो तुम भी दया को अपने जीवन में अपनाओ। (मात्रा भवतु सम्मनाः) प्रकृति रूपी 'म्' माँ कुछ खाने-पीने को दे तो उस के हार्दिक प्यार से दिये हुए दूध को पी लो, भोजन को खा लो, कपड़े भी पहन लो, पर हे 'चु' हे 'उ' जीव! तू अनुव्रती अ का ही बन, प्रभु रूप पिता का ही बन।

ओ३म् हे 'उ'-जीव! तू अपना मुख सदा प्रभु की ओर रख।

तू नेकी में जाग और बुराई में सो जा।
तू मुँह मोड़ माया से भगवान् का हो जा॥

'उ' हे जीव ! अगर मेरा मुँह 'उ' की ओर रहे तो तेरा प्रयाण 'अ' प्रभु की ओर रहा– तेरी गति उधर को रही तो तू देवयानमार्ग का पथिक बनेगा पर अगर 'म्' की ओर मुख कर उधर को बढ़ते रहे तो यह पितृयान=मरण जन्म का चक्र चल पड़ेगा।

'अ' की ओर 'उ' बढ़ेगा तो यह श्रेयमार्ग है, अगर 'उ' 'म्' की ओर बढ़ता रहा तो यह 'प्रेय' का मार्ग है। कठ उपनिषद् में कहा गया है– मन्द पुरुष प्रेय का वरण करता और **विवेकी श्रेय का वरण करता है।**

हे 'उ' जीव ! अगर तेरा मुख 'अ' की ओर रहेगा तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार स्वयमेव छूट जायेगा। कोई कहेगा कि तुम बड़े महान् हो तो चूंकि तुम्हारा मुँह 'अ' की ओर है तो तुम कहोगे No (नहीं) **"महाँ हि षः"** महान् वह है मैं नहीं ! देव हो, मित्र हो, तुम न्यायकारी पक्षपात रहित हो, प्रिय हो, अद्भुत हो, अनुपम हो तो चूंकि तुम्हारा मुख 'अ' की ओर हो तो तुम कहोगे– **''देवं देवत्रा, देवानां देवोऽसि, मित्रोऽअद्भुतः'' प्रियो नो अस्तु विश्पतिः"** उस प्यारे और सब जग से न्यारे को देख देख कर **'प्रिया स्वग्नयो वयम्'** हम भी प्यारे बनेंगे।

हे 'उ'– जीव यदि तू 'अ' की ओर ही मुख किये रहे उस का ही ध्यान करता रहे– उसी में अवस्थित रहे तो तू उन्नत ही उन्नत होता रहेगा। ऊँचा ही ऊँचा उठता रहेगा और अगर 'म्' प्रकृति में फंसा रहा तो उठने का उन्नत ज्ञान का प्रश्न ही नहीं 'म्' की दलदल में ही फंसा रहेगा।

'म्' प्रकृति में फंसा रहा तो ऊत का ऊत बना रहेगा, उल्लू का उल्लू ही बना रहेगा। फिर तुम को दिन में तो क्या रात में भी नहीं दिखाई देगा। दिन में तो पुत्र, कलत्र, रुपया, रूप, रंग की ओट में छिपा हुआ प्रभु दिखाई न देगा और इन भोग विलासों के अन्धकार में उल्लू की तरह उस प्रभु को देख नहीं पाओगे। रात में सोने पर तो 'अ' प्रभु दिखाई क्या देगा। स्वप्न में भी तुम्हें यही स्त्री, पुत्र, सोना, चाँदी, भोग, विलास नजर आते हैं।

यदि 'अ' की ओर 'उ' जीव का मुख रहा तो फिर 'म्' (प्रकृति) में भी उसे सर्वदा–सर्वत्र प्रभु ही प्रभु दिखाई देगा। प्रभु में तो प्रभु दिखाई देगा ही, दिन में भी प्रभु दिखाई देगा, पर रात में भी सर्वत्र प्रभु का ही ध्यान होगा।

'म्' प्रकृति महान् है (मल–मूत्र करो तो भी गिला शिकवा नहीं। अपने बच्चों पर भी वह वसुधा माँ, वह वसुन्धरा माँ) फल–फूल, सोना–चाँदी,

तेल-पेट्रोल नानाविध पदार्थ वार देती है—वह पृथिवी है । **सप्रथाः** बड़े विशाल दिलवाली है, बच्चों को नहलाती, धुलाती । गंगा, यमुना, सरस्वती के जल, गौ, भैंस, बकरी का दूध भी पिलाती, सूखे मेवे खिलाती है आदि-आदि। प्रकृति 'म्'=माँ बड़ी महान् है इसमें कोई सन्देह नहीं पर 'अ'-पिता-प्रभु अद्भुत है, अनुपम है, विलक्षण दिव्य है। परम है यह 'म्' प्रकृति माँ भी उसी की कृपा का परिणाम है, यह जो कुछ भी दे पाती है उसी की कृपा और व्यवस्था से दे पाती है।

यह 'म्'=प्रकृति रूप माँ 'अ' के सहारे बिना रह ही नहीं सकती। 'म्' हलन्त-व्यञ्जन बिना 'अ' के सहारे बोला भी नहीं जा सकता । 'म्' में 'अ' बसा रहता है, उस के बिन मेरी माँ एक पग भी नहीं चल सकती। मेरी माँ इतनी महान् है कि इसके उपकारों से गद्गद होकर मैं गर्व से कहता हूँ— **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** पर मेरा परम पिता परमेश्वर जो 'अ' है वह तो अद्भुत है।

अनुपम है, अत्युत्तम है, अप्रतिम है, अद्वितीय है, विलक्षण है, दिव्य है, परम है, इन्द्र है, वरुण है, रुद्र है, मित्र है, सखा है।

बन्धु देवता है, पूषा है। देखो ! सब कुछ करके भी वह प्रदर्शन से दूर रहता है। एक बहिन के विवाह पर एक भाई ने बढ़िया पंखा दिया। उसको देते हुए एक पिता ने और उस राज्य मन्त्री ने चित्र खिंचवाया। मैं दांतों तले अंगुली दबा गया। मेरी हैरानी का ठिकाना न रहा। मैं उस दाता भाई की महानता पर, अनुपमता पर अश-अश करता रह गया और उन दाताओं की स्थिति पर तरस खा के रह गया। मेरी दृष्टि माथा उस प्रदर्शन से दूर खड़े मुसकरा रहे मर्द पर गई और सहज हार्दिक श्रद्धा से मेरा सिर उस दिव्य दाता के सामने झुक गया ।

मैंने देखा कि एक दाता ने भाई-भावज को अपना गुलाब के समान खिला हुआ दिन का फूल चित्र प्यार में दे दिया। दीदी एक हमारा है यह दूसरा तुम को दे रहे हैं—**वी०डी०ओ०** फिल्म ली गई। दाता और भाई-भावज को देते हुए चित्र लिया गया। दीदी-जीजी-जीजा जी यह हमारे गृहस्थाश्रम का द्वितीय पुष्प है। इन्हें दिया तो प्रमाण के लिए फोटो खिंचवाया परन्तु उस परम पिता प्रभु ने जब तुम्हें एक नहीं दो खिलने वाले भविष्य में दो कलियाँ रूप फूल दिये, कितने प्यारे आँखें, कान, हृदय, हाथ-पैर दिये पर उसने अपना फोटो नहीं खिंचवाया । (दोनों पति-पत्नी दम्पती ३-४ साल से परेशान थे, भगवान् ने दोनों को गुलाब के फूल सा पुत्र दिया ।) दोनों खिल गए बच्चे रूप पुष्प को लेकर। महर्षि

दयानन्द के पास गए उनकी गोदी में डाल कहा–"महाराज ! इस को आशीर्वाद देते हुए हम दोनों को आदेश–उपदेश–निर्देश दो कि हम उसे क्या बनायें।"

तो मैं कह रहा था **'देवो देवानामसि'**– वह देवों में अद्भुत देवता है **'देव देवेश'**– देवों में अद्वितीय देव। कन्या–दान करती माँ माता जब बेटी को जामाता के हाथ में देती है तो फोटो खिंचवाते हैं पर जब प्रभु ने यह कन्या दी थी तो उस दाता ने चित्र नहीं खिंचवाया। सगाई की रसम पर फलों का टोकरा–पेटी बादाम–छुआरा भरी थाली, आदि भाई–पिता ने तिलक करके जमाता आदि को सब दिया तो फोटो खिंचवा कर। पर उस दाता ने देने वालों को अन्न से लाद दिया। वृक्षों को फल–फूलों से लाद दिया, बादामों से लाद दिया। चीकू रूप लड्डू दिये, हीरे मोती दिये, पर उस दाता ने सदा अपने को ओट में रखा, सदा ओझल रखा, प्रकृति माँ ने सब दिलवाया। पंखे के प्राण उस भाई की तरह पृथक् खड़े मुस्कुराते हुए उस महान् बन्धु को देख मैं उसकी महानता पर उस की विलक्षणता पर उस के गुप्त दान पर मुग्ध हो गया और मेरे हाथ जुड़ गए, हृदय श्रद्धा से भर गया, आँखें श्रद्धा–प्रेम से नम हो गईं। सिर अभिमान से शून्य एवं नम्रता से भर कर झुक गया। उसके सामने और व्यर्थ में उस प्रभु दान पर अपना फोटो खिंचवाने वाले अपना नाम लिखवाने वालों पर मुझे बड़ा तरस आया। सोचा कि उनको क्या समझाऊँ। अरे बावले पति–पत्नियों=दम्पतियों को (Wife & Husband) उस दाता ने उन्हें एक नहीं दो दिये पर प्रदर्शन से वह कोसों दूर रहा और दूसरे पुत्र को अपनी बहिन–ननद को देने की बुद्धि भी तो उसी ने दी। अतः वह 'अ' प्रभु अद्भुत दाता है। अनुपम दाता है, विलक्षण देवता है, देव है, उस दिव्य दाता के सम्मुख बैठकर श्रद्धा भक्ति से उसकी ओर उन्मुख होकर उसके गीत गा।

उस अद्भुत अनुपम दाता को देखकर तुम को अपने दान भूल जायेंगे। अपनी देन भूल जायेंगी पर तुम अपना फोटो न खिंचवाकर उसके चित्र को उसी के चरित्र को उस दिन से उस दाता को जग के सामने लाओगे अपने को ओझल करोगे।

स्वामी आत्मानन्द जी का देहावसान हो गया। दिल्ली में ट्रक पर ले जाते हुए या नीचे उनके शिष्य पण्डित विद्याधर जी जो ४५ वर्ष तक उन्हीं के सेवक बनकर भी रहे उनके आश्रम में निस्वार्थ अधिष्ठाता, आचार्य आदि का बिना नाम से कार्य करते रहे ऐसे निष्ठावान् व्यक्ति को

उस समय झट पीछे धकेलकर (तत्कालीन) सार्वदेशिक सभा के मन्त्री आगे खड़े हो गये। जब पण्डित विद्याधर जी को ओझल कर दिया तो एक व्यक्ति ने बड़े तेजोमय भावों से भरकर कहा—उसको रास्ते में कोसते हुए, तुम जानते हो यह कौन है जिसने जीवन वार दिया, भोगों, धनैश्वर्यों को लात मार कर जवानी वार दी—उन पर उनको पीछे कर तुम ऐसे खड़े हो जैसे कि तुम ही उनके सब कुछ हो। तुम सेवा शुश्रूषा आदि के दाता हो, तब उस को एक ओर कर पं० विद्याधर जी को सामने लाया गया। (जबकि पं० जी बोले कोई बात नहीं। ऐसे ही एक व्यक्ति बहुत कुछ दे रहा था, रजाई-कम्बल आदि-आदि तो फोटो खिंचवाता जाता और कहता वो शो करता जाता कि मैंने यह किया, वह किया, यह दिया, वह दिया तो वह एक साधक जिसने दाता को देखा था, पण्डित विद्याधर जी को सेवा-शुश्रूषा आदि सब करते-वरते देखा था। असली दाता प्रभु को देखा था, असली पंखे के दाता को देखा था। वह झट उस दाता को सच्चे प्रदर्शन से दूर खड़े मुस्कुराते हुए प्रभु के पास ले आया और उस के चित्र और चरित्र को, उस दाता और उसके दानों को उसके कृत्यों और उस कर्ता को सामने लाकर बताता है, और स्वयं गाता है और औरों को भी कहता है कि असली दाता यह है। इसी को गाओ इसी को अपने हृदय में चित्रित करो-स्थापित करो तब सब उस साधक के साथ मिल कर गाते हैं।

दाता तेरी प्रीति का ढंग है, निराला अमृत, पीवे कर्मों वाला।
दाता तेरी प्रीति का सुख है, निराला अमृत पीवे कर्मों वाला॥
तूने हमें उत्पन्न किया पालन कर रहा है तू।
तुझ से ही पाते प्राण हम दुखियों के कष्ट हरता है तू॥

तूने हमें सब कुछ दिया, पर हम ने धन्यवाद भी नहीं दिया। आज तू रजाई-कम्बल बांट कर अपना चित्र खिंचवा रहा है—दया दिखा रहा है कि मैं इनको कम्बल-रजाई न देता तो इन बेचारों का क्या हाल होता? यहां ये तो मर जाते ठण्ड से, इतनी रजाइयां दीं, वहां इतने कम्बल दिए, इतने स्वेटर, जरसियां, शॉलें दिए और अपने दानों को और अपने चित्रों को कैमरे और उनके दिल रूप कैमरों में अंकित करता जाता और अपने को सब के सामने चित्रित करता हुआ सुदीर्घ काल से अनादि काल से देने वाले दाता को पीछे धकेलता हुआ मैं-मैं करता जाता है। एक साधक ने यह सब जब देखा तो उससे नहीं रहा गया और उसको कोसते हुए उसने कहा कि तू ही दाता है, तूने ही इनका पालन पोषण किया, तू

ही इनको सदा कम्बल देता रहा। तू अपना पालन पोषण भी उसकी कृपा के बिना नहीं कर सकता। क्या आज तक जो वह इतने बड़े हो गये, क्या तू ही इनको दाल-आटा, धन-धान्य देता रहा ? क्या तू ही अब तक इनकी सर्दी दूर करने को कम्बल, रजाई, स्वेटर, शॉल देता रहा? जो अनादि काल से यह सब कुछ कर रहा है, जो दीर्घ काल से यह सब कुछ करता रहा। उस पं० विद्याधर को मुझे सामने लाने दे, उसी के चित्र को सब के अन्तःकरण रूप कैमरे में चित्रित होने दे। हट जा तू आगे से, क्या आज तक तू इसे देता रहा, खिलाता-पिलाता रहा, चला आया १०-२० कम्बल, रजाई देकर लोगों के अन्तःकरण कैमरे में अंकित होने के लिए।

वत्स तू प्रभु की 'म्' प्रकृति माँ के बच्चों को प्यार करेगा, उनकी सहायता, सहयोग करेगा तो वह प्रभु तुझ पर प्रसन्न होकर उस पिता के समान कि जिसके बच्चे गुलाब के फूल पर लपकने पर तूने फूल-फल दिये तो तू उस पिता के स्नेह-सम्मान का पात्र बना पर अगर तूने यह प्यार यह सहयोग प्रभु की सन्तति को मोह पूर्वक, ममता पूर्वक दिया है और तू अगर उस प्रभु और प्रकृति के बच्चों को अपने पास बनाए रखना चाहता है तो वह फिर तुम से खुश नहीं हो सकता। वरन समय पर अपना बच्चा लेगा तो तुम को कष्ट होगा, तुम्हारे आँसू निकलेंगे, तुम रोओगे आदि।

तभी कहा है—**ओम् प्रतिष्ठ** (माण्डूक्य) वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में है, इस से बाहर भी प्रतिष्ठित है, अतः यह अधूरा है। प्रभु इस से बड़ा है, यह अधूरा हो ही नहीं सकता।

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा। ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा। ओम् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीःश्रयतां स्वाहा॥

अ+उ+म्- अ=अमृत उ प्रार्थना करता हुआ वह चाहता है- हे 'अ' हे अमृत स्वरूप प्रभो! तू ही मुझ उ नामक जीव का अमृत स्वरूप बिछौना है। तू अमृत स्वरूप प्रभु ही मेरा ओढ़ना है, उस अमृत स्वरूप प्रभु के बिछौने, ओढ़ने के मध्य (माँ की झोली में चुन्नी, शालें रूप ओढ़ने में सत्य, यश, श्री रूप दुग्धामृत का पान करूँ।)

'अ' के पास जायेगा तो शान्त रहेगा, 'म्' के पास जायेगा तो अशान्त रहेगा। अ-अग्नि स्वरूप प्रभु का आश्रय लोगे, इस अग्नि रूप प्रभु को अपने साथ रखोगे या तुम इस अग्नि स्वरूप, तेजः स्वरूप, प्रकाश स्वरूप प्रभु के आश्रय रहोगे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार

आदि सिंह, चीता आदि शत्रुओं से बचे रहोगे। 'उ' (जीव) 'अ' अग्नि स्वरूप प्रभु से प्रार्थना करता है—**अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव।** 'उ' जीव कहता है—**अहम् अग्निमीळे।** 'उ' जीव कहता है—"जिसकी मैं स्तुति करता हूँ वह अग्नि **पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः।** 'उ' कहता है—**अग्निना रयिमश्नवत्।**

उ 'म्' की गोदी में पड़ा हुआ सब कुछ पाता है, खाता है, पहनता है, सुख पाता है पर प्रभु के पास नहीं जाता। माँ वेद माता आदि द्वारा जब 'अ' पिता प्रभु की महिमा बताती है तो उधर जब बढ़ता है तो फिर बुलाने पर भी 'म्' के पास खाने को नहीं आता। माँ अब तेरी चीजों में कोई रस नहीं, षड् रस से वह निराला रस है, अनुपम रस है। उसको चख लेने पर अब प्रकृति माँ तेरे इन पदार्थों में अब कुछ रस नहीं लगता। अब प्रकृति माँ के पास आता है तो खाते-खाते भी बात परमात्मा की करता है। बेटा मैंने बड़े प्यार से यह खाना बनाया, खीर कैसी लगी, प्रभुवर की कृपा से बड़ी अच्छी लगी। माँ इन पदार्थों की बात मत करो। मेरे प्राणप्रिय, प्रभु की बात कर। माँ बोलती है—२+२=४ घड़ी रात उठो।

बेटा तबीयत कैसी है? प्रभु की कृपा से बहुत अच्छी। बेटा क्या प्रोग्राम है ? माँ प्रकृति जहाँ प्राणप्रिय प्रभु भेज देगा वहीं पहुँच जायेगा। माँ प्रकृति अपने प्रोग्राम तो अब समाप्त हो गए। अब तो जो प्रभु के प्रोग्राम हैं वही अपने प्रोग्राम हैं वह सुलाता है तो हम सो जाते, वह खिलाता है तो हम खा लेते, वह पिला देता है तो हम पी लेते, वह पहना देता, ओढ़ा देता तो हम पहन लेते, ओढ़ लेते। वह उठा देता तो उठ जाते, सुला देता तो हम सो जाते, वह बुला देता तो हम बोल जाते, वह चुप करा देता तो हम चुप हो जाते, वह जनसमुदाय में ले जाता तो हम चले जाते। वह वहाँ से उठा कर एकान्त में ले जाता तो हम तुरन्त आ जाते हैं। वह मौन सम्मान को विष्ठा जना देता तो हम उसको विष्ठा मान कर उस मान-सम्मान से नाक मुँह सिंकोड़ कर चले आते, वह प्यार में डुबो देता तो हम डूब जाते, वह उभार कर जन कल्याण कराते तो मैं जन समुदाय में दौड़ जाता फिर भाग लेता।

वत्स! तू R.C. Sharma व S.C.R. किसी को कुछ न खाते व अत्यन्त खाते को देख क्यों निवृत्त होता है? तुम्हारा आदर्श तो 'अ' है, तुम्हारा लक्ष्य-उद्देश्य तो 'अ' है **'अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति'-अभोक्ता स न पश्यति**-जो बिल्कुल ही न खाता हुआ, बिल्कुल इन खाद्य एवं पेय पदार्थों को स्पर्श भी नहीं करता केवल देखता है। उसके

साथ संग करेगा, उसके साथ बैठा रहेगा, उसको अपना आदर्श मानता रहेगा, उसकी उपासना करता रहेगा, उसका संग करता रहेगा तो उसके संग से एक दिन तुम भी **अनश्नन्**=न खाते हुए-**अभुञ्जाना**=न भोग करते हुए बड़े आराम से स्थिर भाव से, निश्चल भाव से बिना लार टपकाए हुए तुम इन सब पदार्थों को देख सकोगे।

परन्तु 'उ' हे जीव! तुम अगर इस 'म्' प्रकृति माँ के इन पदार्थों पर टूटते हुओं को, भटकते हुओं को, लपकते हुओं को, दबादब-दबादब खाते हुओं को, हाथ भर-भर कर खाते हुओं को तथा मुट्ठी भर-भर कर खाते हुओं को देखोगे तो तुम में भी यही भाव पैदा होंगे-वे तो खा गए, हम तो रह गए, वे तो पी गए हम तो रह गए। उन्होंने तो खूब आपाधापी से क्या कर कार, कोठी ले ली, हम तो यों ही रह गए, तो आप भी इन नानाविध खाद्य एवं पेय आदि पदार्थों पर टूट पड़ोगे? उसके लिए झगड़ा भी करोगे, दौड़-धूप भी करोगे? वे तो प्रोफेसर बन गए, हम रह गए। वे तो खा गए, हम रह गए, वे हाथ मार गए हम रह गए, वे खा गए हम यों ही रह गए। हमने तो आइस्क्रीम खाई भी नहीं वे ही सब उठा ले गए। सेब, सन्तरे तो हम छू भी न पाए (विवाह में) हम से पहले ही वे साफ हो गए। गाजर का हलवा तो हम देख भी न पाए, फ्रूटचाट तो हम सूँघ भी नहीं पाए। यह सब सोच कर आगे ऐसे खाद्य पदार्थों पर मनुष्य टूटता है, ऐसे लोगों में रह-रह कर भोक्ताओं में-**अश्नन्-अश्नन्तौ-अश्नन्तः** में हम भी भोजनों पर, स्वादिष्ठ पदार्थों पर टूटते हैं।

उपदेशक विद्यालय में ब्र० सत्यप्रिय ने खीर का पतीला उठा लिया और दबादब खाने लगे। एक लंगड़े ब्रह्मचारी ने सब के बीच कहा कि-"यह क्या सभ्यता है पतीला ही उठाकर उसमें खाने लगे। ऐसा करना बुरी बात है, अशिष्टता है। सत्यप्रिय जी! तू अपनी सभ्यता अपने पास रख, तू शिष्ट बना रह, हमें ऐसा ही रहने दे और फिर पतीले में लगी हुई खीर खाने में लग गए। यह देखकर कि यह तो मानता ही नहीं खाए चला जा रहा है तो वह लंगड़ा ब्रह्मचारी भी आ गया और उसी पतीले पर पिल पड़ा।" सत्यप्रिय जी! तू तो बड़ा सभ्य शिष्ट बन रहा था अब क्यों खा रहे हो। तब वह बोला कि मैं तो शिष्टता, सभ्यता में पड़ा-पड़ा घाटे में ही रह जाऊँगा। मैं कह रहा था कि अश्नन्तों-भोगियों में रह-रह कर हम भी इन भोगों पर टूट पड़ते हैं पर अगर हम "**अनश्नन्**" 'अभोक्ता' (केवल द्रष्टा) के स्वरूप में अवस्थित रहेंगे तो शनैः-शनैः हम भी सब भोग विलासों के सामने रहते हुए भी-नानाविध स्वादिष्ठ खाद्यों और

पेयों के सम्मुख रहने पर भी हम **अनश्नन्ताः** (अनश्नन्) रहेंगे **(वृत्तिसारूप्य-मितरत्र ।)** रहेंगे ।

'अ' सर्वव्यापक अविनाशी 'अ' को अपना बना लोगे तो सारा जग तुम्हारा अपना हो जायेगा।

'अ' अकाम, अमृत स्वरूप प्रभु अपना है तो सब अपने हैं वह पराया है तो सब कुछ पराया।

'अ' सब में है– सर्वव्यापक है पर फिर भी सब से अलग है, ऐसे हीं 'उ'=हे जीव ! तू सब में रहकर भी सब से अलग रहे । **(अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।)**

हे 'उ'–**उद्यानं ते पुरुष नाववयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।**
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमावदासि ॥
उत्क्रामातः पुरुष मावपत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः॥
अ० ८।१।४,६ ॥

हे 'उ' (हे जीव) तू कभी उठेगा भी कि सदा सोता रहेगा और सोता रहेगा तो खोता रहेगा और जो खोता रहेगा तो सदा ढोता रहेगा।

आवे दिया खोतिया आवे हेठ खलोतिया ।
आवे नहीं मुकणा ते तू नहीं छुटणा ॥
कच्चियाँ जे आवेगा ते पक्कियाँ ले जावेगा ।
आवे नहीं मुकणा ते तू नहीं अ छुटणा ॥

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषा वस्तर्धिया व्रयम् । नमो भरन्त एमसि ॥

हे 'अ' अग्निस्वरूप, अमृतस्वरूप, अद्भुत अनुपम प्रभुवर ! **'उपैमसि'** अब हम प्रतिदिन में भी रात प्रभात बुद्धि पूर्वक तेरी ओर आ रहे हैं ।

जो 'उ' (जो आत्माएं) जीवन 'अ' में कुछ जा चुके हैं वहां से कुछ पा चुके हैं वे दूसरों को कहते हैं ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

वे कहते हैं–सदा सोता रहेगा (भोगने में) या कभी उठेगा भी ।

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहां जो सोवत है।
जो सोवत है सो खोवत है, जो जागत है सो पावत है ॥
हर रात के पिछले पहर में एक दौलत लुटती रहती है ।
जो जागते हैं सो पाते हैं, जो सोते हैं वे खोते हैं ॥

'मु' में रहेगा तो मूर्ख बना रहेगा 'अ' में रहेगा तो अद्भुत अनुपम

इन्सान बन जायेगा ।

जब तक घर में 'म्' के पास रहता है तो अबोध रहता है, खेल खिलौने में मस्त रहता है। स्त्री पुत्रों में व भोग भोगने में डूबा रहता है। जिस दिन 'अ' के पास जाता है तो स्याना हो जाता है, विवेकी बुद्धिमान् हो जाता है।

वेद कहता है—**अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः।**

जब वह 'अ' के पास जाता है तो धीर (**धीरो धीमान् भवति**) व बुद्धिमान् हो जाता है फिर वह (**धियं राति ददातीत्ति धीरः**) फिर वह अन्यों को भी बुद्धि देता रहता है, समझाता रहता है, अन्यों को भी धीरज देता—सान्त्वना देता है, तसल्ली देता है, सूझ देता है।

जो 'अ' में कुछ जा चुके वे औरों को भी समझाते रहते हैं।

अब तो रात आ गई, शाम हो गई अब तो गा, अब तो उसको याद कर। अब तो जीवन की भी शाम हो गई, अब तो तू कितना भी योग्य क्यों न हो, स्कूल कॉलेज में कोई पूछता नहीं, घर में भी (आयविहीन) होने से कोई घास नहीं डालता । उठ अपनी पेंशन रूप 'म्' का कुछ सहारा ले लो—लाठी टेकता—टेकता पहुँच जा वानप्रस्थ, चला जा वानप्रस्थ आश्रम, चला जा तपोवन। चला जा आर्यसमाज, चला जा मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे । अगर विरक्त रहेगा तो ये चरण छूते रहेंगे और अगर आसक्त रहेगा हर बात में शेखी मारता रहेगा तो थोड़ी बहुत जो इज्जत है वह भी बहुओं और पुत्रों में गवाँ बैठेगा। चल यहाँ से बाहर, अब इस घेरे को छोड़कर—इन घर परिवारों की दीवारों को ढा कर समाज में जा, राष्ट्र में जा, सब को अपना स्नेह=प्यार, दुलार दे। तुम को मजा आ जायेगा, समाज तुम्हें सिर पर उठा लेगा । और यह—

घर परिवार भी तुम को धन्य—धन्य कहेगा। नहीं तो अन्दर से भी मिट्टी खराब होगी बाहर से भी।

जो 'उ' जीव कुछ जाग चुके, कुछ संभल चुके, कुछ 'म्' प्रकृति—विकृति से ऊपर उठ चुके वे अन्य 'उ' जीव को समझाते हैं—

तू नेकी में जाग—बुराई में सो जा ।
तू मोह माया छोड़ भगवान् का हो जा ॥
तू प्रकाश में जा तू अन्धकार को छोड़,
जो दुनिया का दिन ही तेरी रात हो ।
तो हर दम तेरा अच्छाई से साथ हो ॥

'उ' (हे जीव) तू उठ और 'अ' की ओर उन्मुख हो। बड़ी उमंग

और उत्साह से 'अ' अपने पूज्य पिता के पास जा। वहाँ तुझे वह पालेगा परमैश्वर्य की माँ के इस अमर ऐश्वर्य को भी भूल जायेगा।

वत्स! जो 'म्' प्रकृति है वह 'म्' बिना 'अ' के सहारे नहीं रह सकती। (म्) बिना 'अ' खड़ी भी नहीं रह सकती, जिसका सहारा माँ ने लिया उसी 'अ' का आश्रय तू भी ले–

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ कठो०

'अ' कहता है 'तू' मेरी ओर आ 'म्' कहती है तू मत जा। यहाँ तुझे न मक्खन मिलेगा न मलाई, न माँ मिलेगी न माँ की ममता, न मखाने मिलेंगे न मुनक्का, न स्नेह न ममता, न स्त्री न पुत्र, यह सुन्दर-सुन्दर खान-पान। अतः मगन ईश्वर की भक्ति में अरे मन क्यों नहीं होता?

तू द्रष्टा, कर्ता, विधाता, निर्माता, अनश्नन्, अभोक्ता में बस जा।

उत्तिष्ठता प्रतरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम् ।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान् स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥
(अथर्व० १२।२।२७)

उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन ॥
(ऋ० १०।१७९।१)

अन्वय—उत्तिष्ठत अवपश्यत, इन्द्रस्य ऋत्वियं (ऋतु+इयम्) भागम्। यदि श्रातः, जुहोतन। यदि अश्रातुः, ममत्तन।

भावार्थ— 'उ' उठो और (चहुँ ओर) ध्यान से देखो। इन्द्र-प्रभु का ऋतु के अनुरूप जो यह भाग है। यदि सिद्ध है=पक गया है तो उसको दे दो परन्तु यदि सिद्ध न हो, तैयार न हो, पका न हो तो हर्ष के साथ दान कर दो, ठहर जाओ अर्थात् अभी सब्र करो- धीरज करो और उसको सिद्ध होने दो, पकने दो।

हे 'उ' जीव! तूने स्वयं ही नहीं जगना वरन् औरों को भी जगाना है–

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥
(अथर्व० १९।६३।१)

हे 'उ' **उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽजायत॥**

'अ' **अग्निं घृतेन वावृधुः।** अग्नि स्वरूप प्रभु को घी से श्रद्धा भक्ति से अपने अन्दर बढ़ाओ=उद्बुद्ध करो जैसे साधक करते हैं।

"अग्निमीळे स उ श्रवत् ।" ऋ० ८।४३।२४

मैं उस 'अ'– अग्निस्वरूप प्रभु की स्तुति करता हूँ, वह ही हमें सुनता है ।

'अ' अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम् ।
अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य ॥
(ऋ० १०।७।३)

'अज' न जायत इति अजः (अजर, अमर) हे 'उ' तू मर्त्य–तू जन्मने और मरने वाला उस 'अज' कभी न जन्मने वाले की स्तुति कर, और छोड़ दे। 'म्' मर्त्य प्रकृति विकृति को यह 'अ' का 'उ' को उपदेश है–

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर ।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ॥

हे 'उ' 'म्' कहती है बेटा खा पी मौज मार, पर 'अ' अन्तर्यामी (अन्तर्यमयतीति–अन्तर्यामी) वह रोकता है अन्दर से और कहता है यह न खा वह न खा, यह खा वह खा; यह न पी वह न पी, यह पी वह पी; यह न देख वह न देख, यह देख वह देख; यह न छू वह न छू, यह छू, वह छू। यह खा, ऐसे खा, इतना खा; यह न खा, ऐसे न खा, इतना न खा; अच्छा देख, यह देख, यह सुन, भद्र बोल (भद्रं भद्रमित्याहुः) अभद्र न देख, अभद्र न सुन, अभद्र न बोल,

न हि त्वदन् यन्मघवत् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥
(ऋ० ७।३२।१९)

हे वासयितः वा वास करने वाले! तुझ से भिन्न निश्चय नहीं है। नः आप्यम्=हमारे प्रापणीय बन्धु और (पिताचन) पालक पिता भी।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
(१०।८२।७)

(न तं विदाथ) उसको तुम नहीं जानते (यः, इमा इमानि जजान) जिसने कि इन भुवनों को पैदा किया है, (अन्यत्) वह तुम से भिन्न है, और (युष्माकम्, अन्तरम्, बभूव) तुम्हारी (आत्माओं) के भीतर है (तुम इसलिए उसे देख नहीं पाते–नहीं जान पाते कि तुम) (नीहारेण) अविद्या के कोहरे द्वारा (प्रावृताः) घिरे हुए हो (च) और (असुतृपः) केवल भोगों की तृप्ति में रत हो तथा (उक्थशास) वेदों

के उक्थों अर्थात् सूक्तों या उक्तियों का केवल कथन मात्र करते हुए (चरन्ति) विचरते हो।

अविद्या=अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ (यो० २।५)

अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना, अशुचि को शुचि, दुःख को सुख और अनात्म तत्त्वों को आत्मा जानना अविद्या है। मन्त्रगत (अन्यत्) शब्द द्वारा परमेश्वर और जीवात्माओं में भेद दर्शाकर जीवात्माओं के "अन्तरम्" अन्दर-भीतर परमेश्वर की स्थिति बतायी है।

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
य आत्मनोऽन्तरो यमयति स आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥
(बृहदा० उ०)

अर्थात् जो परमेश्वर आत्मा, अर्थात् जीवात्मा में स्थित है और जीवात्मा से भिन्न है, जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्याप्त है। जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर, अर्थात् जैसे शरीर में जीवात्मा रहता है वैसे ही जीवात्मा में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्माओं से भिन्न रहकर, जीव के पाप पुण्यों का साक्षी होकर, उनके फल, जीवों को देकर नियम में रखता है। वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी अर्थात् तेरे भीतर व्याप्त है उसको तू जान। (स० प्र०)

वह 'अ' अन्य है सब में प्रकृति, जीव में रहकर भी सब से अन्य है, सब से न्यारा है। विलक्षण है=अलग-थलग है, मैं अपने प्राकृतिक तन में रहकर भी इससे अन्य-अलग-थलग नहीं रह सका ऐसे ही बन्धु बान्धवों के पास रहकर भी-इनसे अन्य, अलग-थलग नहीं रह सकता। अतः इस शरीर व स्त्री, पुत्र में विकार आने पर मैं दुःखी व सुखी होता हूँ। अगर अन्य बन सकूं तो फिर दुःख-सुख नहीं आवेंगे।

क्योंकि तुम उस को नहीं जानते (किस को) किसने इन सब लोक-लोकान्तरों को बनाया, (वह कौन है?) जो 'अन्यत्' तुम से 'अन्य' है (वह है कहाँ?) **युष्माकमन्तरं बभूव** "जो तुम्हारे अन्दर है वैसे तुम इस शरीर में रहते हो वैसे वह तुम्हारी आत्मा रूपी शरीर को घर बनाकर उसमें रहता है।" तुम उसको नहीं जानते, किस को? जो (**तनुते विस्तृतो भवतीति तद् स तौ ते तम्**)=तुम उसको नहीं जो अत्यन्त विस्तृत है कण-कण में रम रहा है। एक व्यक्ति मस्जिद में शराब पी रहा था। मेरे पिता जी ने भी उस साधु को निकाला धर्मशाला से जिसने लटि में माँस बनाया हुआ था, मैं तब ११-११½ का था। कोसते हुए ज़ाहिद ने

कहा–तुम्हें शर्म नहीं आती मस्जिद में शराब पी रहे हो, मस्जिद में बीड़ी पीते हो, मस्जिद में माँस खाते हो । वह बोला–

जाहिद शराब पीने दे मस्जिद में बैठकर ।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा नहीं ।।

मैं वहीं बैठ कर पी लूँगा । अतः हे मनुष्यो ! तुम उसको नहीं जानते ? किस को ? जो कण–कण में रम रहा है । जो अत्यन्त व्यापक है उसको तुम नहीं जानते, तुम तो उसको जानते हो जो मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे में है । अगर तुम उसको जान जाओगे जो सर्वत्र व्यापक है तो फिर तुम भी पाप नहीं कर सकते। **न तं विदाथ, य इमा जजान** तुम उसको नहीं जानते जिसने इन भुवनों को बनाया है। तुम तो उनको जानते हो– जिन्होंने तुम्हारे इन भुवनों–घरों, दुकानों, कोठियों को बनाया है। तुम्हें बशीर ने बनाया, अल्ताफ ने बनाया, गंगाराम ने बनाया, इन राजमिस्त्रियों ने बनाया । उसको नहीं जिसने इन (**इमानि भुवनानि जजान**) लोक–लोकान्तरों को बनाया। उसमें विद्युत् के रूप में सूर्य चन्द्र बनाए। वह कौन है? 'अन्यत्' इन सब आर्किटेक्टों से–मिस्त्री–मजदूरों से अन्य है–विलक्षण है। वह है कहाँ ? **युष्माकमन्तरं बभूव**=तुम्हारे भीतर है, ऐसे जैसे कि तुम शरीर के भीतर हो तो फिर दिखाई क्यों नहीं देता? **'नीहारेण प्रावृताः'** अविद्यान्धकार रूप कोहरे से घिरे हुए हो । कोहरे में पृथिवी से १३ लाख गुना सूर्य गायब हो जाता है । अज्ञान रूपी कोहरे से ढकने पर मैं चश्मा उपनेत्र पहने हुए ही अपना चश्मा ढूंढ रहा हूँ, किसी से पूछा तो कहा कि चश्मा आप की आँखों पर है। वह इस कीचड़ में (प्रकृति–गृहस्थ रूप दलदल में) पैर नहीं धरता। यह 'उ' जीव जब इसमें पैर धरता है तो वह धंस जाता है, फिर यह इस दलदल में से जितना निकलने को प्रयास करता है उतना ही उसमें धंसता जाता है। दोहता विदेश से आ रहा है उसको क्या दूँ ? आशीर्वाद । वह इतना खर्च करके नाना को देखने आयेगा तो फिर उसको फूल–फल के साथ आशीर्वाद दे देना। पोते– पोतियों, दोहते–दोहतियों के हर विवाह में मैं न रहूँ तो भी ५०००–५००० रुपये दे देना ।

'म्' प्रकृतिः बर्हणा पुनर्हणा ।।यह प्रकृति अपने सम्पर्क से हमें शारीरिक स्वास्थ्य, धन–धान्य, खाद्य, पेय, स्त्री–पुत्रों से बढ़ाती है फिर 'हणा', मारती है घटाती है, जैसे जुए के पासे अच्छा लगा धन आया, आरामदेय साधन आए, सुन्दर स्त्री–पुत्र आए, स्वादिष्ठ–गरिष्ठ, खाद्य, पेय एवं सूखे मेवे आए । ये सब कहने को बढ़ाते हैं पर संग गिराता

है। तन से ऊँची वृत्तियाँ स्वाध्याय साधना संयम उठाते हैं। पर ये स्वादिष्ठ पदार्थ+आलस्य, डायबिटीज ये मारते हैं।

पहले दांत खाते फिर दांतों को कीड़े खाते हैं। आंतों को भी नाना-विध कीड़े खा अन्त में सब मार के छोड़ते हैं। 'अ' पिता के पास रहोगे तो जन्मना, बढ़ना, घटना, मरना, सब स्यापा खतम, उसके पास तो आनन्द ही आनन्द है।

'अ' भी अन्य है और 'उ' भी अन्य है, 'अ' ईश, जीव 'उ' और 'म्' प्रकृति में व्यापक होने पर भी उससे अन्य है। उनसे विलक्षण है (उनसे अकाम है) 'उ'- जीव भी अन्य है पर **तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति**। 'अ' और 'उ' दोनों में एक अन्य जीव इस प्रकृति के फल खाता है व जीवों को चूमता, चाहता, दिल से लगाता है और कहता भी जाता है। बड़ा स्वादिष्ठ है, बड़ा ही प्यारा है, जी करता है इसको खाता ही रहूँ, इसको हृदय से लगाता ही रहूँ, पल भर को भी दिल से अलग नहीं होऊँ। उसके वियोग को असह्य मान कर उसके बिना मरता व आत्महत्या तक करता है। इस पति व पत्नी के बिना तो मैं एक पल भी नहीं जी सकता।

यह गृहस्थ--यह जग हरी मिर्च जैसा मुंह से सी-सी करता है नाक-आँख से पानी बह रहा है पर फिर भी बड़ी स्वाद है, बड़ी स्वाद है करके खा रहा है, कुत्ते की तरह हड्डी चूसता हुआ अपने ही निकले रक्त को कह रहा है बड़ा स्वाद है-बड़ा स्वाद है।

'म्' प्रकृति-विकृति एवं 'उ' जीवों स्त्री-पुत्रों, पौत्रादि में इतना मगन हो जाता है कि इनके अभाव में अपना मरण पाता है। छत गिरी तो कहता है हाय मैं मरा, मरता पुत्र है तो कहता है हाय मैं मर गया, बरबाद हो गया, धन गया तो कहता हाय मैं बरबाद हो गया आदि। इसलिए इन जीवों एवं 'म्' प्रकृति में मगन व्यक्ति दुःखी, सुखी, मोही, कामी, क्रोधी, लोभी, अहङ्कारी, ईर्ष्यालु आदि बनता रहता है।

पर **अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति**। पर जो न खाता हुआ, न भोगता हुआ, अन्य विलक्षण बना रहता है। वह सदा युवा बना रहता है, सदा आनन्द में रहता है।

इसलिए इसके लिए बड़े भारी उपदेश हैं पर 'अ' प्रभु के लिए- यह मगन 'उ' जीवों और 'म्' प्रकृति पद प्रतिष्ठाओं में होता है जो अहङ्कारी, कामी, क्रोधी आदि बनता है। अतः कहा गया-

मगन ईश्वर की भक्ति में अरे मन क्यों नहीं होता ?
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

अतः उठो ! जागो ! दौड़ो ! उन वरणीय महापुरुषों के पास जो इनसे ऊपर उठकर 'अ' में मग्न हो गए हैं। जिन्होंने इनसे ऊपर उठकर प्रभु का वरण कर लिया है, उनके पास जाकर कुछ बोध प्राप्त करो।

यह 'अ' इस 'उ' की दयनीय दशा देख दया करके उसको वेद द्वारा व प्रेरणा द्वारा संसार में प्रेक्टिकल रूप में उदाहरण दे देकर समझाता है।

१९।१२।९० आज वरुण (श्रीमती सुशीला के पुत्र) का जन्मदिन है। कहने को यह बालक है, सात वर्ष का। हम ३०,४०,५०,६०,७० के हो लिये पर हम भी तो सब बालक हैं। प्रकृति हमारी माँ है, प्रभु हमारा पिता है, हम इस प्रकृति की गोद से खेल कूद खिलौने और साथियों से हटते नहीं। माँ सुशीला बेटे वरुण को पुकारती है-- बेटे वरुण आओ बैठो, टिक कर बैठो, चैन से स्थिर होकर बैठो। आज वरणीय बहन जी वरणीय विद्वान् आए हैं इनके पास बैठो। इनसे कुछ निबोधत=ज्ञान सुनो-तेरा नाम वरुण है।

हम को अपने क्रोध वाली तस्वीर नहीं पसन्द, चिल्लाने की नहीं पसन्द, (इरिटेट होने) झुंझलाने वाली तस्वीर पसन्द नहीं। एक दिन एक माँ और पड़ोसन या माँ और चाची लड़ रही थीं तो बेटे ने टेप किया, चलाया तो माँ बोली, भेड़िया ए तू की कीता, जल्दी मिटा इसको। माँ तू इस टेप को नहीं उस हृदय रूपी टेप को साफ करो, तभी जो भी फिर निकलेगा वह सब टेप करने लायक होगा। एक बोला एक विद्वान् के बारे में कि आप एक भी शब्द धरती पर न गिरने दें वह सब टेप करने लायक है, एक बार १५-२० मिनट के कथन को सिन्धी के घर में डॉ० महावीर की वार्ता आज टेप करना बड़ा जरूरी था।

उ 'म्' प्रकृति की गोद में बैठकर 'अ' अग्नि देव से कितनी सुन्दर-सुन्दर प्रार्थनाएं कर रहा है।

१. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वायुनानि विद्वान्।
२. अग्ने मृड महाँ अस्यय आ देवयुं जनम्।' इयेथ बर्हिरासदम्॥
त्वंहि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्नमीमहे॥
(सामशतक-७,४६)

'अ' पिता है 'म्' माता है। 'अ' अग्निमीळे (मां) से दाल रोटी पाकर 'अ' को पूजता हूँ।

उप त्वाग्ने दिवे दिवे। त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रः असि प्रियः। सा या सखिभ्यः ईड्यः॥ **(सा० श० ५७)**

अन्वय– 'अ' हे अग्ने ! त्वं जनानां जामिः (बन्धुः असि) त्वं प्रियः मित्रः असि। सखिभ्यः ईड्यः सखा असि)।

आ त्वेता निषीदतेन्द्रमभिप्रगायत । सखायः स्तोमवाहसः ॥
(सा० श०-१८)

'अ' अग्नि (दिवं दिवम् ईड्य:)
अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवेत्सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ।
नि त्वा नक्ष्यः विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम् । सुवीरमान आहुतः ॥
(सा०पू० १।१।३६)

'अ' आहुतः अग्ने ! मां के पास रहते इतना 'म्' में मान हो गया इतना डूब गया कि जरा तेज बुखार हुआ कष्ट हुआ तो यह हाय माँ, ओ माँ, माँ-माँ, हाय माँ ! राम सदा बाप के साथ सोता रहा तो भी यह हाय माँ, हाय माँ पुकारता रहा । 'मम' मम्म, यह माँ ही मम्म-चीजी देती है, इस माँ ने अपने गर्भ में रख नाड़ी द्वारा मुझ बीज की जड़ों में रक्त की आहुति दी । बाहर आने पर दुग्धामृत की आहुति दी, अपने जीवन का सार दिया । मुझे स्वरक्त से लाल चट्ट करती रही और स्वयं को पीत वर्ण-कमजोर करती रही और जब मुझे बाहर इन आंखों से देखा तो यह फूली न समायी। मुझे बाप का पास दिलाने को सांसारिक पिता से ओ३म् लिखाया। मुझे हृदय से लगाया, छाती से लगाया । शुक्र किया, धन्यवाद किया। प्रभु का बच्चा रोया, भूख से रोकर उसने प्रभु को पुकारा, भूख लगी है तो माँ का स्नेह में दुग्ध प्रवाह प्रवाहित हो गया (मां में इतना मग्न हुआ, उसके मोह में इतना डूब गया, उसकी ममता में इतना तल्लीन हो गया कि **'अन्ति सन्तं न पश्यति'** मैं पिता के साथ पड़े रहते हुए, उसके साथ सोते हुए भी कष्ट, पीड़ा, भूख, सर्दी, प्यास में मैं माँ को ही पुकारता रहा । वहां जबरदस्ती अगर इस माँ ने प्रभु की, पिता की (ओ३म् की) उपासना में बिठा दिया तो मैं बैठ न सका, माँ बोली बेटा कुमार एक माला ओम् की नहीं करेगा तो गोभी, आलू, मूली का परोंठा नहीं दूंगी, टाफी नहीं दूंगी। बालक है जप विचारा ओम का कर रहा है पर ध्यान परोंठे में है, टाफी में है और वह उस टाफी, परोंठे के उद्देश्य के लिए ओम् वा गायत्री जप रहा है और सोचता है किसी तरह वह माला जल्दी पूरी हो। ११ बार गायत्री का स्यापा खतम हुआ तो गर्म-गर्म ब्रेड रोल, परोंठा आदि खाने को मिला। लाटी किसी तरह गीता का यह अध्याय खत्म हो-दादी को सुना दूँ तो दुवन्नी मिले फिर जाकर चाट, आइसक्रीम, भल्ले-पकोड़े, पापड़ी आदि खाऊँ।

माँ और माँ के इन पदार्थों में खेल-खिलौने-स्त्री-पुत्रों पौत्र-दोहित्रों

में बिना चाबी के चलने वाले इन बन्दर तोता , लंगूर, कोयल, प्यारे-प्यारे पिल्लों में इतना मस्त हुआ कि अ को ही भूल गया ।

धीरे-धीरे माँ समझाती रही, वेद मां समझाती रही, गोमाता सात्त्विक दूध पिलाती रही, माँ ब्रह्मबूटी खिलाती रही, कड़वा, कसैला, खट्टा, सूखा खिलाती रही। वेद माता भी भूखा प्यासा रखकर तपस्वी बनाती रही।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यावन्तसुखाय च ॥

'अ' की ओर मेरे से साधक का ध्यान गया। पहले से यह माँ की ममता में पड़ा रहा, उसके दिये सुन्दर-सुन्दर पदार्थों में डूबा रहा, उसके दिये प्रिय-प्रिय बिना चाबी के चलने वाले खेल-खिलौनों को दिल से लगाता रहा, प्रिय-प्रिय वस्त्र को चूमता चाटता रहा। तोता, मैना, कोयल की मधुर-मधुर कहानियों को सुनता रहा, किसी चीज की चाह हुई तो माँ को पुकारता रहा, माँ चीजी-माँ मम्म, माँ यह लूंगा वह लूंगा। एक गरीब बेटे ने राजा की पुत्री देखी तो कहा माँ मैं यह लूंगा, इससे विवाह करूँगा नहीं तो मरूँगा । माँ ने उपाय बताया साधना करी, तप किया-राजा ने शोर सुना सपरिवार आया । माँ ने कहा वह राजपुत्री आते ही चरणों में है देख। नहीं माँ अब उस अ में मजा आ गया । अब इन खिलौनों का मैं क्या करूँगा।

मुर्गा बोला कुकडू कूं, तू उठ जाग; तब यह जागा- भोगनिद्रा को इसने त्यागा, और अ की महिमा जानी। उसको अपने अत्यन्त निकट पाया और "**अन्ति सन्तं न पश्यति ।**" मैं अमेरिका में बड़े भांजों को यहां बैठे-बैठे देख सका, उन्हें याद कर सका-करता रहा। प्रिय सतीश रूप जिस शिष्य को देखता व स्मरण करता रहा, यह क्यों विवाह के रूप में अपनी नहीं हुई तो चन्दौसी में फांसी खाकर लटक कर मर गया ।

कश्मीर को देखता रहा, इस बाप को देखता रहा, याद करता रहा। उस माता को सांसारिक बन्धु को सांसारिक सखा को, सांसारिक पुत्र-पौत्र को देखता, सुनता, स्मरण करता रहा, इनसे बातें करता रहा पर '**अन्ति सन्तं न पश्यति ।**' अत्यन्त समीप विराजमान और फिर **अन्ति सन्तं न जहाति ।** जो मुझ निकटतम को कभी छोड़ता नहीं अन्य सब छोड़ जाते हैं । इन पिताओं के भी पिता इन माताओं जी की भी माता जगदम्बा इस बन्धु (**स नो बन्धुर्जनिता स विधाता।**) इन विधाओं के भी विधाता, परम सखा, अद्भुत मितवा, अनुपम सखा, अनुपम सर्वाधार। 'अ' बन्धु को न देख सका। अब जब उधर ध्यान गया तो यह सब माता-पिता-भगिनी-भ्राता, बन्धु-बान्धव दोस्त-मित्र खेल-खिलौने

आदि को भूल गया ।

जब मुर्गा बोला कुकडू कूं उठो मानव ! मैं उठा तो मैंने पुकारा अ-आ-आ (हे प्रभो, हे प्रभो, हे प्रभो, हे विभो, हे विभो, हे विभो

अग्निमीळे। अग्निः पूर्वेभिः। अग्निना रयिमश्नवत्।

अग्ने नय सुपथा । अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि ।

अग्नि की स्तुति प्रशंसा से उसमें अनुराग हुआ। यजुः बोला- बेटा तन को सुखा नहीं, तन को रुला नहीं। इषे त्वा ऊर्जे त्वा ।

अन्न कमा, बल बढ़ा और जब सशक्त हो जाय तो सविता देव! **त्वा श्रेष्ठतमाय (यज्ञकर्मणे) प्रार्पयत ।** श्रेष्ठतम निष्काम यज्ञ कर्मों से शुभ कर्मों का फल दुनिया से न चाह, शुभ दुनिया के प्रति कर और उनकी शंसा-प्रशंसा से भाग तो प्रभु तुम को शाबाश देगा और श्रेष्ठतम कर्म-सत्कर्म जब निष्काम में बदल जाता है दुनिया का कर्म करके उससे स्नेह लाड़ प्रशंसा पाने से भागता और कहता है जिस प्रभु की कृपा से हुआ, तुम मुझे नहीं उसको गाओ, मैं ने तो उस के प्यार में उसकी प्रेरणा से यह सब किया । अतः वह हर शुभ कर्म करके इन लोगों से अपने 'अ' को अग्नि को प्रकाशस्वरूप प्रभु को पुकारना चाहता है उसी के पास जाना चाहता है व उसी को बुलाना चाहता है।

अग्न आयाहि । वह स्त्री पुत्र, धन-धान्य मित्र-सखा आदि का वियोग सह सकता है पर 'अ' का नहीं, प्रभु का नहीं।

मैं ४२-४४ वर्ष पूर्व संसार से गए पिता को देख सका, स्मरण कर सका पर उस बापों के बाप **'अन्ति सन्तं न पश्यति अन्ति सन्तं न जहाति ।'** अत्यन्त निकट-समीप विराजमान और कभी भी साथ न छोड़ने वाले- कभी भी न त्यागने वाले परम पिता परमेश्वर को न देख सका, न स्मरण कर सका । २० वर्ष पूर्व संसार से विदा हुई माँ जो रात को मुझे सुलाती ओढ़ाती और प्रातः मुझे उठाती, नहलाती-दुलाती, पहनाती, खिलाती, पिलाती, टहलाती, गाती-गवाती, सुनती-सुनाती, पढ़ती-पढ़ाती, चलती-चलाती, हँसती-हँसाती, बोलती-बुलवाती, करती-कराती, खेलती-खिलाती, स्नेह देती-पाती हुई माँ के रूप को देख पाता स्मरण कर पाता हूँ, पर उस जगदम्बा माँ जो युगयुगान्तरों से मुझे सिराहने खड़ी (भोगनिद्रा से) उठा रही है । मैं भोगनिद्रा में सोते-सोते बूढ़ा हो गया मेरे बाल सफेद हो गये पर मैं जागा नहीं लेटे-लेटे जग को भोगते-भोगते, भोगनिद्रा में मैं बूढ़ा हो गया पर माँ अजर-अमर। वह जगदम्बा माँ वेद के एक मन्त्रानुसार जगा रही है। उस अमर माँ को न देख पाया, न सुन पाया,

न स्मरण कर पाया, (जो मेरी इस सांसारिक माँ की भी माँ है, उसकी माँ की भी माँ है) मैं चन्दौसी में विराजमान भाई को हिमाचल में, अमेरिका में, महाराष्ट्र में, चन्दौसी में रह रहे- विराजमान बन्धु-बान्धवों, भगिनी-भ्राताओं को याद कर एकदम स्मरण करते ही उनके रूपों को निहार पाया। उनका स्मरण कर पाया पर **'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता'** पर उस बन्धु को (**अन्ति सन्तं न पश्यति ।**) न देख सका, न उससे बात कर सका। सदा से खड़ा है सदा से मेरे निकट है, युगयुगान्तरों से देख रहा है। मैंने उस पिता को उस माता को, उस बन्धु को, उस परम सखा को उस अद्वितीय साथी, अद्भुत मित्र को अत्यन्त समीप युगयुगान्तरों से खड़े दोस्त को जो कभी मेरा साथ नहीं छोड़ता (**अन्ति सन्तं न पश्यति, अन्ति सन्तं न जहाति ।**) यहाँ तक कि मैं उसकी ओर ध्यान भी नहीं देता, उसको देखता भी नहीं, स्मरण भी नहीं करता हूँ। कभी याद भी करता हूँ तो उसकी दृष्टि के सम्मुख अपनी पत्नी-पुत्र-पुत्री व नानाविध खाद्य एवं पेय पदार्थ होते हैं जैसे कि कोई किसी से बात भी कर रहा हो पर वह सोच रहा है कि वह जाए और मैं कुछ और.....। ऐसे प्रभु का नाम भी बच्चा लेता है पर जल्दी यह ओम् जाप गायत्री खत्म हो ताकि मैं ब्रेड रोल खाऊँ आदि।

जिस दिन इन सब से निराश-हताश दुःखी होकर यह जरा परे हटा-जरा पेट में तरबूज, बेर से दर्द होता, मीठे पदार्थों से डायबिटीज होती, नमक से हाई ब्लड प्रेशर होता, पोते-दोहतों के शोर ने पागल बना दिया। कृष्ण ने गिरधारी को कहा था कि आप बड़े भाग्यशाली, परम महान्, सौभाग्यशाली हैं। दुनिया से निराश होकर जो भीतर निहारा दूर-दूर कलकत्ता, बम्बई व यू०पी० महाराष्ट्र, पञ्जाब, हिमाचल, इंग्लेण्ड-अमेरिका के लोगों से दृष्टि बटोर जो देखा तो 'अ' (**अन्ति सन्तं पश्यति**) अत्यन्त निकट, अत्यन्त समीप, विराजमान भगवान् को परम सखा को जगदम्बा माँ को, परम बन्धु को-**मित्रोऽसि** अद्भुत अनुपम मित्र को निहारा तो बेहद खुश होकर आनन्द विभोर होकर, फूला न समा कर ब्रह्मा मेरे परम पिता, मेरी अनुपम माँ, मेरे अद्वितीय बन्धु, मेरे परम सखा, मेरे अद्भुत मित्र (अद्भुत स्नेही-अद्भुत विश्वासपात्र) तुम कहाँ से, कब से, यहाँ खड़े हो ! मजा आ गया, आनन्द आ गया, मौज आ गई। (अ नहीं आया मानो आनन्द आ गया, बन्धु नहीं आया मानो स्नेह उमड़ आया, तू मित्र नहीं आया बल्कि अपार प्यार अद्वितीय विश्वास उमड़ आया। 'अ' नहीं आया वरन अनुपम आस्था उमड़ आई, वे सारी

सख्यताएं प्रवाहित होने लगीं।) मेरे अद्वितीय मित्र तू कहाँ था? तू मुद्दतों से कहाँ गायब रहा ? (अब यह उसकी तो सुन ही नहीं रहा है अपनी ही अपनी बोले जा रहा है। इसको क्या खिलाऊं? क्या पिलाऊं? कहाँ बैठाऊं? इस हड़बड़ाहट में कुछ का कुछ कहे जा रहा है, कुछ का कुछ किये जा रहा है, खुशी से फूला नहीं समा रहा है, विभोर होके गा रहा है, विभोर होके नाच रहा है।

तूने कभी ध्यान भी नहीं दिया कि मुझ पर क्या बीती। उसको तो अब बोलने का अवसर ही नहीं देता, उसको कुछ कहने का मौका ही नहीं देता, खुद बोले जा रहा है, कहे जा रहा है। मेरे परम पिता, मेरी परम माँ, मेरे परम सखा, मेरे अद्वितीय बन्धो ! मेरे अनुपम मित्र, मेरी बड़ी बुरी दुर्दशा हुई, बड़ा अपमान हुआ, मैंने बड़ी-बड़ी चोटें खाईं। यह देख मेरी पीठ आनन्द स्वामी जी को एक ने दिखाई, बेटे ने मारा। सहारनपुर में दो भाइयों की लड़ाई में पिस्टल, चाकू, छुरा बीच में बाप आया, बाप को परे धक्का दिया नौजवान बेटे ने, केस पुलिस पर गया, उसने मुझ से पूछा कि—'भगवान्दास' बोल किसका दोष है किसका कसूर है ? किसको हवालात में डालूं, किसको ज़ेल भिजवाऊँ, किस पर डण्डे बरसवाऊँ, किसकी मरम्मत कराऊँ ? बाप थानेदार साहब! किसको दोषी बताऊँ, किसको अच्छा और किसको बुरा बताऊँ ? जिसको बताता हूँ उसको तू मारेगा, हवालात में रखेगा, जेल भिजवा देगा तो फिर मैं कैसे उसको छुड़वाऊँगा? (रोज कमाना, रोज खाना) अपने बच्चे तो जैसे-तैसे पाल लिये इस बुढ़ापे में इनकी कमाई खाने वाला कैसे फिर दुकान पर जाकर इनके बच्चों को कमा के खिलायेगा ? अतः मैं अपने कर्मों का प्रसाद भुगत रहा हूँ, भगवान् इन्हें सद्बुद्धि दे। थानेदार ने दोनों को बुलाया—नालायको छुओ बाप के पैर माफी माँगो उस बाप से, दोनों हाथ मिलाओ।

पर हे **'अन्ति सन्तम्'** सखा तूने मेरा हाल न पूछा। मैं क्या-क्या बताऊँ ? मुझे सर्विस से बाहर कर दिया मेरे बास ने, मैं दर-दर की ठोकरें खाता रहा, दुकान खोली उसमें घाटा, वह भी नहीं चली। अन्त में कपड़ों की गठरी बाँह में लटका-लटका कर मैं दर-दर घूमता रहा और बड़ी मुश्किल से इन बाल बच्चों को कुछ खिला-पिला, पढ़ा-लिखा पाया। क्या-क्या बताऊँ मेरे दोस्त मुझ पर क्या-क्या गुजरी, पत्नी मर गई, हाई ब्लड प्रेशर हो गया, पुत्र को कहा बेटा पत्नी को कह दे जरा नमक बाद में डाल लिया करे या कम डाले, फिर जरूरत हो तो डाल लिया करे- पर बेटे ने झिड़क कर कहा कि पिता जी खानी है तो खा लिया करो नहीं

तो जा कर ढाबे पर खा लिया करो । और पत्नी पर डण्डा उठा कर चल दिया, और बहुत गन्दी गाली देकर मारने को दौड़ा। कितनी बार कहा है तुझे नमक न डाला कर या कम डाला कर अपने लिए फिर डाल लिया कर । फलाँ की बच्ची तू मानती क्यों नहीं ? तेरी जान निकाल लूंगा । पिता नहीं बेटा वरन, मैंने उसकी लाठी छीन ली । नहीं बेटा मेरे लिए यह सब न करो, मैंने अपनी औकात समझी और मन ही मन कहा—चलो ! भाई, अब यहाँ ठिकाना नहीं।

मैं वानप्रस्थ चला आया वहाँ स्वयं भोजन भण्डार में भी वही नमक की प्राब्लम थी, वहाँ भी तू-तू, मैं-मैं होने लगी। सारी सब्जी का स्वाद बिगड़ जाता । चलो 'मन' स्वयं बना, सो उस दिन से चूल्हा जला रखा है, सो कच्ची-पक्की, टेढ़ी, सीधी, मोटी, माटी या सात्त्विक बे स्वाद खा रहा हूँ, पर मेरे मित्र तूने कभी मेरी सुध नहीं ली, तूने कभी सुध नहीं ली, तूने कभी मेरा ख्याल नहीं किया । मित्र को कहते हुए आज युग-युगान्तरों से भरा हुआ दिल, गुबार खाली कर रहा हूँ, गुब्बार निकल रहा है । अगली पिछली सब सुना रहा हूँ, मेरे दोस्त मेरी सुन, तू अब नहीं, अपने हृदय पर पड़े हुए इन बातों के ढेर को । जरा मुझे कह लेने दे जी भर कर गिला-शिकवा कर लेने दे । कुछ पुत्र-पुत्री सम्बन्धी कुछ पत्नी सम्बन्धी, कुछ इन दुनियादारी स्वार्थ मित्र सम्बन्धी सारी बातें सुनाने दे, फिर तू कुछ कहना। मेरा दिल भरा हुआ है, भगवान् सुनता जाता, हँसता जाता, मुस्कुराता जाता, सम्भवतः प्यार में उसके आँसू छलक जाते, सम्भवतः उसको सहलाता जाता, धीर बंधाता जाता, उसके हृदय को खाली करता जाता है ।

फिर कहता मेरे मित्र, मेरे दोस्त, मेरे हम उमर, मेरे हमजोली, मैं तुम्हें किस-किस की बातें सुनाऊँ, मैं तुझे अपना क्या-क्या रोना सुनाऊँ? मुझ पर क्या-क्या बीती, मुझ पर क्या-क्या गुजरा, मेरे भाई-बन्धुओं ने मेरे साथ क्या-क्या किया, पार्टीबाज अधिकारियों ने मुझे कैसे-कैसे सताया, कहाँ-कहाँ मेरा अपमान किया, मेरी कहाँ-कहाँ अवहेलना की, मेरी कहाँ-कहाँ बेइज्जती की । मुझ से कैसा-कैसा कड़वा कसैला व्यवहार किया । मेरी पत्नी और मेरे पुत्र ने तो मुझे जान से मार कर मेरे सारे वैभव को हड़पना चाहा आदि-आदि । पर पता नहीं तू कहाँ था, कहाँ गायब रहा, तू तो ईद के चाँद को भी मात कर गया । वह तो कभी दिख भी जाता है तू तो युग-युगान्तरों से अन्तर्हित रहा, गायब रहा ।

मेरे प्रिय वत्स, मेरे लाडले बन्धु, मेरे प्रिय पुत्र, मेरे प्यारे सखा मैं

तो तेरे पास खड़ा था, मैं तेरे समीप विराजमान था, मैं तो तेरे निकट रहता हुआ रात्री को गाढ़ निद्रा में तुझे अपना स्नेह लाड-प्यार आनन्द देता था, (तू-तभी टोकता था बाहरी निद्रा आई-आनन्द आया।) खूब हल्का हो गया, सारी थकान उतर गयी, फ्रेश हो गया, तरोताजा हो गया। मैं तो कब से खड़ा तेरे पास, मेरे प्यारे मित्र ! मैं तो युग-युगान्तरों से तेरे पास खड़ा हूँ, तेरे पास विराजमान हूँ। (**अन्ति सन्तं न जहाति।**) मैंने तुझे कभी छोड़ा नहीं, कभी तुझे त्यागा नहीं, कभी तुझे भुलाया नहीं, न ही कभी तेरी अवहेलना की। तू कितना हीं बिगड़ क्यों न गया, मैं तुझे समझाता बुझाता रहा, धीर बांधता रहा पर तू शोर गुल में, उन भोग विलासों की चकाचौंध में, उन स्त्री पुत्रों, पौत्र दोहित्रों के समुदाय में, भीड़-भाड़ में, उनके मित्र पुत्रों के मधु, प्रिय बोलों में उनकी प्रिय-प्रिय किलकारियों में, उन सब के मधुर प्रियस्पर्शों, उन भोगों के आस्वादनों में मेरी सुनता ही न था। कभी तू रोता चिल्लाता भी था, मैं तुझे समझाता बुझाता भी था, पर तू अपने करुण क्रन्दन, अपने चीत्कार-विलाप में मेरी आवाज तो सुनता ही न था। इन दुनियावी स्पर्शों में तुझे मेरे अद्वितीय संस्पर्श का कुछ भान ही नहीं हुआ। मेरे मित्र तू नहीं जानता कि मैं तेरा कैसा बन्धु हूँ, तू नहीं जानता कि मैं तेरा कैसा सखा हूँ, तू नहीं जानता कि मैं तेरी कैसी माँ हूँ? कैसा पिता हूँ? कैसा सखा हूँ, कैसा मित्र हूँ।

भगवान्-परमसखा-आदित्य मित्र 'अन्ति सन्तं' प्रभुवर जब यह बोल रहा था तो जीव (कभी प्यार में रोता-कभी पछताता।) मेरे पास मेरा दोस्त था पर मैंने कभी उसकी मदद नहीं ली। इसको न पुकारा, न याद किया और इसकी बातें सुन-सुनकर बोला-मेरे मित्र चलो, यहां घर में शोर-गुल है। इस नगर ग्राम में नारे लग रहे हैं, मण्डल आयोग के नारे लग रहे हैं। वी०पी० सिंह मुर्दाबाद, मुलायमसिंह मुर्दाबाद के नारे लग रहे हैं। गुरुकुल में दो वर्गों की जंग का शोर है, गली मौहल्ले में कोलाहल है, चलो सखा-वानप्रस्थ में वहां एकान्त कुटिया में बैठेंगे। मेरा मुख मेरे मित्र की ओर होगा-कान भी, आंख भी, ध्यान भी, मन भी, और तेरा मेरी ओर। चलो जंगल में, चलो एकान्त में (जैसे एक वर कन्या को लेकर उसके साथ एकान्त में जाना चाहता, मिलना चाहता, बात करना चाहता है; उसका स्पर्श पाना चाहता है आदि आदि) चलो तपोवन चलो, नदियों के संगम पर चलो, पर्वतों की उपत्यकाओं में, चलो निर्जन वन में, चलो Cave गुफाओं में-एकान्त, शान्त, स्वच्छ प्रदेश में। बस फिर क्या-क्या होता है-दिल से, दुनिया से 'म्' से दूर होकर वह उस प्राणप्रिय सखा के

पास आ बैठता है। फिर उससे अलग नहीं होना चाहता, इस तनरूपी पशु को दाना चारा डालते हुए भी अपने प्राणप्रिय प्रभु में ही मग्न रहता है–

हे प्रभो! हे प्रभो! हे प्रभो! हे प्रभो!
हे विभो! हे विभो! हे बन्धो!
तू मेरा मैं तेरा, तू मेरा मैं तेरा ॥

'अ' कि उपासना से आनन्द आ गया–मैं अग्निमीळे से स्तुति करता रहा, **अग्निः पूर्वेभिः, अग्निना रयिमश्नवत्, अग्ने व्रतपते, अग्ने नय सुपथा ।**

प्रभु बोला–**इषे त्वा** अन्न या **ऊर्जे त्वा** उस अन्न से बल बढ़ा । फिर सविता देव–**त्वा श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु**, सविता देव तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ के लिए प्रेरित करे व मैं करूँ । हाँ तू फिर इष=अन्न, दुग्ध, फल, मेवे आदि खाकर सशक्त कर्मेन्द्रियों से ज्ञान की झोली भरता और फिर सशक्त कर्मेन्द्रियों से उस ज्ञान के अनुसार प्रभु–प्रेरणा अनुसार उन्हें श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ में लगाता। उस प्रभु की Guidance में तू नित्यप्रति अपने कर्मों को यज्ञमय बनाना, यज्ञ रूप बनाना अर्थात् निष्काम यज्ञ, निष्काम कर्म बनाना अर्थात् दुनिया का हित वाला, पर जब तुझ को गावें, अभिनन्दन पत्र पढ़ें, तेरे गीत गायें, तुझे मालाओं से लादना चाहें तो वहां से भाग जाना और कहना इन थोथी व्यर्थ की बातों में–व्यर्थ के कामों में मेरा कीमती समय खराब न करो, कभी सेवा हुई तो याद करना पर इन मालाओं के लिए इन फोटोग्राफियों के लिए, इन अभिनन्दन पत्रों–अभिनन्दन ग्रन्थों के लिए, पैर पुजवाने के लिए, शंसा प्रशंसा सुनने के लिए, उपकार का बदला पाने के लिए नहीं ।

इयमुन्नतसत्त्वशालिनां कापि कठोरचिन्तया ।
उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकाराशङ्कया॥

उपकार कर वे उपकृत्य व्यक्ति से बड़ी दूर रहते हैं कि कभी शर्माशर्मी या कृतज्ञतावश उससे उपकार लेना न पड़ जाए।

गंगा की धारा, ओ धारा रुक जा, (क्यों, कुछ सेवा तुमने मेरा मुँह धुलाया, मुझे नहला कर मेरी देह की तपश मिटाई, मेरे को शीतल जल पिलाकर मेरी प्यास बुझाई । जरा रुक ! मैं तेरा धन्यवाद तो कर लूँ– **सम्–सम् स्रवति नद्यः**) सम्–सम् करती हुई अपने प्रियतम समुद्र का गान करती हुई आगे बढ़ती हुई बोली–मुझे बहुत दूर जाना है, मेरा उद्देश्य बहुत ऊँचा है, समय थोड़ा है, प्रभु–प्रेरणा से जो कार्य सामने आया कर दिया–तुम्हें पानी पिला दिया, तेरी प्यास बुझा दी, तुझे नहला दिया । आगे

चलकर रुड़की वालों की, खतौली वालों की भी सेवा करनी है, बिचारे प्रतीक्षा में बैठे हैं। (मैं धारा रुक गई तो) वे बिचारे प्यासे रह जायेंगे, उनके कपड़े मैले रह जाय़ेंगे, उनके खेत सूख जायेंगे, वे बिचारे गर्मी से झुलस जायेंगे। मुझे बहुत कार्य है। धन्यवाद तो लेती जा ! तो धारा बोली अगर मैं रुक गई तो मुझ में सड़ान्ध पैदा हो जायेगी, फिर इन्सान तो क्या पशु भी मुझ से दूर जायेंगे। सड़ान्ध कैसी ? सुनो, अगर तुम ने धन्यवाद दिया। मेरी स्तुति की, गुणगान किया तो मैं धारा या (साधक) फूल कर कुप्पा हो जाऊंगा कि आह मैं इतना ऊँचा व्यक्ति इतनी उपकारिणी धारा, अभिमान आ जायेगा। तू मेरे रुकने पर भी धन्यवाद नहीं करेगा, मेरा स्तवन नहीं करेगा तो मैं (धारा) तुम को कोसूंगी, कोसूँगा (साधक) देखो कैसा नालायक है, अशिष्ट है, मैंने इस की प्यास बुझाई, इस को नहलाया, इस को साफ सुथरा किया। इसने अपने भीतर अपनी गन्दगी धोने पर भी प्यार दिया, सफाई दी। इस कम्बख्त ने तो धन्यवाद भी नहीं दिया, दो शब्द भी नहीं बोले, (हरियाणा के सिपाही ने मुझे बैठने की जगह दी, घूर-घूर कर देखता हुआ बोला कि—आप कैसे आदमी हैं मैंने स्वयम् उठकर अपनी सीट आपको दे दी पर आपने मेरा धन्यवाद भी नहीं किया, शब्दों में भी आपका कुछ मोल लगता था। तभी मैंने कहा आपने केवल मुख से निकलने वाले धन्यवाद को देखा है जिस दिन हृदय से निकलने वाले धन्यवाद को तू सुन लेगा, जान लेगा तो फिर इस हृदयहीन थोथे धन्यवाद को सुनना भी नहीं चाहेगा।)

अतः जिसका कर्म सविता की प्रेरणा से श्रेष्ठतम कर्म बन जायेगा, निष्काम कर्म धीरे-धीरे बनते जायेंगे। तब वह काम दुनिया का करके अपने गीत गाने वालों, अभिनन्दन करने वालों को हार पहना-पहना कर, मान-सम्मान करने वालों को समय नहीं देगा वरन् कहेगा, अरे जिसकी प्रेरणा से, जिस सविता देव की Inspirations से मैं यह सब कर पाया, तुमने गाना ही है तो उस मेरे प्राणप्रिय सविता देव को गाओ, अभिनन्दन करना है तो उस सविता देव का करो मेरा नहीं मेरा समय इन कार्यों के लिए नहीं सन्ध्यावेला हो गयी (वह मुझे बुला रहा है- आओ बेटा 'अ' बोल रहा है—हे 'उ'=हे जीव ! अ आ आ तू आ मेरे पास। दुनिया की भीड़ भड़ाके को चीर कर तू मेरी ओर दौड़े चला आ।) इस जनसमुदाय को, इन नाना श्रद्धाओं को चीरता हुआ दौड़ा चला आ, इन मान-सम्मानों से, इन मालाओं से बच-बुच कर जल्दी आ तो, मेरा प्रिय वत्स 'उ' अगर तू आ गया इनसे बचकर तो मैं तुम को इतना प्यार दूँगा, इतनी शाबाशी

दूँगा कि उस आनन्द में तू इन सब को अत्यन्त तुच्छ समझेगा।

मेरे प्यारे बन्धुओ ! मेरा समय हो गया अब मैं अन्य किसी को नहीं केवल प्रभु को ही पुकारूंगा। मुझे यह सब नहीं चाहिये कभी याद किया तो कुछ घण्टा आध घण्टा सेवा कर जाऊँगा पर इन मालाओं में, इन मान-सम्मानों में, इन अभिनन्दन-पत्रों एवम् अभिनन्दन ग्रन्थों में समय खोने से मुझे परे रखो। इस से मैं आपका अधिक धन्यवाद करूँगा।

हे 'उ'=हे जीव ! तू 'म्' के पास सदियों पड़ा रह, युग-युगान्तरों तक पड़ा रह, जन्म-जन्मान्तरों तक पड़ा रह, तू कभी तरक्की नहीं कर सकता। सदा 'उ' का 'उ', उल्लू का उल्लू ही बना रहेगा, ऊत का ऊत ही बना रहेगा, कितना भी इस माँ प्रकृति के भोग भोग ले, तू कभी तृप्त नहीं होगा, प्रसन्न नहीं होगा, (पहली श्रेणी आ जाये, जहाँ प्रथम श्रेणी आई, Ph-d. हो जाय, वह हो गई तो सर्विस लग जाये, लेक्चरार बन जाऊँ, रीडरपने में सुख नज़र आयेगा, लेक्चररपने में नहीं, रीडर बन गए तो सुख प्रोफेसर बनने में, फिर आचार्य, प्रो०, वी०सी०, पार्लियामेण्ट का मेम्बर, फिर राज्य मन्त्री, पूर्ण मन्त्री, गृहमन्त्री, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, चक्रवर्ती राजा) सब देशों में मेरा प्रभुत्व हो आदि इस प्रकृति 'म्' के पास बैठा-बैठा तू सदा उल्लू ही बना रहेगा। उल्लू की तरह तुझे दिन में तो कुछ दीखेगा नहीं। (भोगों में, कमाने, खाने में, नाच-रंग-तमाशे में) नानाविध सम्बन्ध में, पत्नी पुत्र-पौत्रों में तुझे 'उल्लू' होने से अपना उद्देश्य तो दिखाई देगा, फिर जब रात को तू सो गया तो उस समय तुझ को क्या दिखाई देगा? इस 'उ' उल्लू को अमेरिका में रहता हुआ बन्धु पिता, ४४ वर्ष पहले मरा हुआ बाप याद आता है, उधर ध्यान जाता है पर पास खड़ा हुआ—समीप विराजमान हुआ Divine Father, Divine Mother, Divine Brother, नहीं, दिखाई देता। जिस दिन इस 'उ' को, इस उल्लू को 'अ' वह प्रभु दिखाई दे जाता है, अनुभव में आ जाता है तो झट उसके पास दौड़ जाता और वह इस को 'उ' से 'ी' बना देता है।

यह 'अ' अगोचर है। अतः दृष्टिगोचर नहीं होता आप गोचर नहीं होता, त्वग् गोचर नहीं होता, रसनामोचन नहीं होता है। इन्द्रियगोचर व गोचर तो यह 'म्' प्रकृति=विकृति है—इससे बने शरीरों वाले जीव ही हैं।

हे 'उ'—हे जीव **दोषा आगाद् तमु स्तुहि** ।=जीवन की शाम हो गई, जीवन की रात का प्रारम्भ हो गया, अब तो निद्रा त्याग (**प्रातः वेले जाग अब तो निद्रा त्याग।**) अब तो हे 'उ'- हे जीव अब तो गा, अब तो रात भी दुनियावी बीत गई। तेरे जीवन की तो शाम व रात हैं।) अब

तो तू उठ, उषा हो गई है, अब तो इस उषा काल में उठ कर उस 'अ' का ध्यान कर और अपने जीवन का उत्थान कर, कब तक गफलत की नींद सोता रहेगा।

जीव को साधन देकर 'म्' प्रभु का भक्त बनाती है पर अगर यह उधर से हट कर हर समय प्रकृति माँ से धन, वैभव, स्त्री, पुत्र, रूप-रंग, सुख-सौभाग्य मुझे कार-कोठी आदि-आदि चाहिये तो फिर वह गोदी से परे कर देती है तो फिर वह प्रकृति माँ के चरणों में बैठ जाता है, हर समय सांसारिक चीजों को मांगता है। इन्हीं के लिए दौड़, धूप करता, रिश्वत देता, चोरी करता, बलात्कार करता तब यह प्रकृति माँ नहीं प्रभु भी मारता है। (प्रकृति कभी क्षमा नहीं करती, भोगों को भोगता रहेगा तो क्षीण हो जायेगा। फिर प्रकृति ही नहीं प्रभु भी ऐसी मार मारता है) (**रूह-रुतं वेदात्मकं शब्दं राति ददातीति, यद्वा रुवं प्रेरणामयशब्दान् राति ददाति यः स रुद्रः**), उन पर नहीं चलता तो '**रोदयति दुष्टान् इति रुद्रः**' फिर उन्हें रुलाता है ऐसी मार मारता है, ऐसी बेइज्जती करता है कि शर्म के मारे सिर न उठा सको। फिर भी बेशर्म होकर कुकर्म न छोड़ दुनिया के भोगों के लिए तो उसका मुँह काला करता, करवाता। उसको साबुन से न धो ले समझदार मनुष्य जो ठहरा तो लंगूर बनाकर ऐसा मुँह काला करता है कि सारा जीवन धोना या कालिख धोने का न विचार कर सकता, न ही उसे मिटा सकता है।

यह 'उ' की बड़ी निकृष्ट गति है, अगर पागल होकर इस प्रकृति-प्राकृतिक पदार्थों के पीछे न पड़े तो भी यह माँ है। इसने इसको जंन्म दिया है, यह उसको स्नेह देगी लाड-प्यार देगी यथोचित खान-पान, रहन-सहन भी देगी और प्रभु-कृपा से उस 'अ' के अनुग्रह से 'उ' ऊपर भी साधना से उठता रहेगा।

जब 'उ' वैसे 'उ' जीव Is next to the God है पर जब यह 'उ' (उल्लू) ही यह कहने लगता है कि Wealth is next to the God तो फिर यह 'अ' 'म्' 'उ' 'अ' से दूर पड़ जाता है फिर चक्र का (उ) को 'अ' सूर्य का प्रकाश नहीं मिल पाता। तब इसे ग्रहण लग जाता है यह सदा फिर अन्धेरे में ही रहता है। 'अ' का अनुपम प्रकाश तेज ओज ज्ञान इसको नहीं मिल पाता। फिर 'म्' प्रकृति साधन न रहकर इसके लिए 'साध्य'-लक्ष्य बन जाती है, तब (खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ वाला बन जाता है। तब यह प्रकृति माँ की गोद से धक्का खा कर उसके पैरों में आ जाता है, वहाँ वह इस पहले वाली गति स्थिति भी नहीं रहती 'म्' के नीचे आ

बैठता है। तब 'उ' = मूर्ख बन जाता है ऐसी अवस्था में मुहुर्-मुहुर् यह इस प्रकृति माँ से कहता है—यह दो, वह दो अगर यह भगवान् का भी नाम लेता है तो इसलिए नहीं कि उसे भगवान् मिले या भगवान् को प्राप्त करे, केवल इसलिए लेता है कि 'अ' उसे धन दे, पुत्र दे, कार-कोठी, रुपया-पैसा जमीन-जायदाद दे। वह चार पैसे दान देता है मन्दिर, गुरुद्वारे में तो भी उससे कई गुना १ के १०-१० भगवान् दे। इसलिए उसको रुपये पैसे की बातें भाती हैं, साड़ी जम्फर की चर्चाएं भाती हैं, कार-कोठियों की बात अच्छी लगती है, किट्टी, पार्टियां भाती हैं। (परमात्मा की बातें उन्हें अच्छी नहीं लगतीं।) तृप्ता ! यह सरोज हर समय भगवान् की ही बातें करेगी, यह आशी तो जब देखो प्रभु-प्रभु करेगी।

लुधियाना में एक माँ—मेरे पति रिटायर हो गए । आप कहिये सत्संग में आया करें, कहने पर—अरे पण्डित जी अभी तो हमारे खाने, पीने और मौज मारने के दिन हैं । माला जपना, सत्संग सुनना तो ५४ वर्षीय पिता का काम है। मेरी पत्नी भी बावली है, ये सुन्दर दिन फिर कब आयेंगे। यही तो खाने-पीने, घूमने-फिरने, देश-देशान्तर, देखने-भालने, रंग-तमाशे और मौज मारने के दिन हैं। अब नहीं तो फिर अगले दिनों इस खाने-पीने व मौज मारने का Chance समाप्त हो जाता है। भजन तो तब कर लेंगे जब और कुछ नहीं कर पायेंगे। (जब दिखना कुछ कम हो जायेगा, सुनना कुछ कम हो जायेगा, खा-पी भी कुछ नहीं सकेंगे, मौज भी नहीं मार सकेंगे, कहीं आ-जा भी नहीं सकेंगे तब तो फिर हम होंगे और भजन होगा- खूब करेंगे)। बावले ! तब तो जैसे और सब कुछ नहीं कर सकोगे, वैसे भजन भी नहीं कर सकोगे ।

यह 'अ' को किसी अंश में याद करता है तो इसलिए नहीं कि 'अ' उसको प्यारा है। अपितु इसलिए कि धन-धान्य उसको प्यारा है और अगर यह काम 'अ' के हाथ में है तो मेरी पूजा से, मेरे पाठ से खुश होकर वह यह मुझे दे दे, लाटी गीता का पाठ करता (एक अध्याय का) दादी को सुनाता, इसलिए नहीं कि उसको गीता भाती है। इसलिए कि उसको दुवन्नी भाती है व सोचता है कि किसी तरह गीता का यह अध्याय खत्म हो और उसको दादी से हरिद्वार में दुवन्नी मिले और वह भल्ले-पकोड़े, गोलगप्पे-सोंन पापड़ी खाये ।

बच्चा गायत्री जप रहा है—ओम् ओम् कह रहा है इसलिए नहीं कि उसको आनन्द आ रहा है या 'अ' को वह चाहता है या उसमें वह झूम रहा है । वह पराठे के लिए, ब्रेड रोल के लिए यह सब ड्रामा कर रहा

है। हनुमान् का प्रसाद खूब रुपये देकर चन्दौसी मन्दिर में बांटता है भगवान् बचा लेना-उसकी निगाह में अफीम-चरस के न पकड़े जाने की प्रार्थना है। पर हनुमान् बेचारा भी कब तक बचाए उसने तो हद कर दी, अन्त में दुर्गति ही हुई।

हर समय कई लोग खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, देखने-भालने, गाने-बजाने, मौज मारने में डूबे रहते हैं। वे 'म्' के नीचे आ जाते हैं 'म् + उ' दान धन-धान्य की आसक्ति में, इन भोग विलासों की आसक्ति में, इन स्त्री-पुत्रों के मोह में फिर वह 'अ' को भी ताक में रख कर अहर्निश रुपया-पैसा, ज़मीन-जायदाद, भोग-विलास, नाच-रंग, तमाशों, खाने-पीने मौज मारने में इन कार्यों के लिए ही लग जाता है। फिर जरूरत अनुभव करता है तो यह प्रभु को याद करता है, उसके नाम पर प्रसाद चढ़ाता, उसका मन्दिर बनवाता, दान देता। ताकि वह और न दे या अत्यधिक अटेचमैण्ट में यह फिर इन सब के लिए पापों को करता, अन्यायों को करता, दूसरों के धन वैभव पर-दूसरों की स्त्रियों पर कुदृष्टि करता, भोगों में अन्धा होकर ऐसे स्थानों में डूबता कि लोक में फिर सर्वत्र थू-थू होती।

(रात को ढाई से तीन बजे फोन को अटैंड कर नब्बे का होकर भी कि भाव बढ़ गया, यह अन्न न बेचना, अभी और भाव बढ़ेगा आदि)

साधक स्नेह सम्मानों-मालाओं अभिनन्दनों से बचता है वही उसके श्रेष्ठतम कर्म की पराकाष्ठा है। वह कहता है-शाम हो गई, सन्ध्या-वेला हो गयी, मुझे प्रभु बुला रहा है और सन्ध्या में बैठकर मैं फिर **'अग्न आयाहि'** द्वारा उसे बुलाता हूँ। यह सन्ध्या-वेला ठीक नहीं, दिन में भी इन फालतू कार्यों में मेरा समय नष्ट मत करो।

'अ' अगोचर है 'म्' गोचर है। 'अ' इन्द्रियों का विषय नहीं, 'म्' जग के पदार्थ गोचर प्रायः हैं इन्द्रियों से देखे जाने, सूंघने योग्य हैं।

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदशितः यन्न कुत्र च शायी स्यात् देवः ब्राह्मणः क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः।

मैं अपने लिए कुछ भी तो नहीं संभालता था, न सोना, न चांदी, न कपड़ा, न लत्ता, न मम, न चीजी, न जूता, जुराब, न फल-फूल, न मेवे, न खेल, न खिलौने, उस समय सभी गोदें मेरी थीं और मैं सब का बच्चा-बेटा था, मुझ में मक्कारी न थी, छल न था, कपट न था।



ओम् की भावना और साधना

१. शब्द-शून्य Speechless—नेत्र बन्द, श्रोत्र बन्द, ओष्ठ बन्द, मुख में जिह्वा अचल, प्राण सम, सम्पूर्ण भावना से ओं की स्थिति में स्थित उ आत्मा अ (ब्रह्म) में समाहित हूँ ऐसी भावना से अविचलता के साथ आसनस्थ होवे। ब्रह्म के वरेण्य भर्ग में दिव्य प्रकाश में निहित अपने आत्मस्वरूप का आप को दर्शन होने जा रहा है। इस प्रतीक्षा में अन्तर्मुख होकर अपनी आत्मगुहा में निरुद्ध वृत्ति होकर समासीन रहो।

२. विचार-शून्य Thoughtless—आत्मसंयम द्वारा अपने मस्तिष्क को सब विचारों तथा चिन्तनों से सर्वथा मुक्त बन्द, करो। जिस प्रकार सुषुप्ति में आप का मस्तिष्क सर्वविध विचारों तथा चिन्तनों से मुक्त होता है। उसी तरह धी के अभ्यास में सर्वविध विचारों से मुक्त करके अपने चिन्तन को आत्मरत करें।

३. गति-शून्य Motionless—पत्थर की मूर्ति सम निर्मित होइये, देह का कोई भी अंश लेशमात्र भी हिलने न पाए। ब्रह्म के स्वरूप व उसकी आकृति की किसी प्रकार की कोई कल्पना न करें। यदि ब्रह्म के किसी भी स्वरूप या आकृति की कल्पना की तो आपको उन काल्पनिक स्वरूप का ही दर्शन होगा। ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का नहीं। उसको ही काल्पनिक स्वरूप में व आकृति में आपको अपने आत्मा का भी दर्शन न होगा।

४. वर्ण-शून्य Colourless—ब्रह्म के स्वरूप के विषय में किसी भी प्रकार के वर्ण-रंग की भी कल्पना न करो अन्यथा वही वर्ण आपकी दृष्टि में छायेगा। ब्रह्म आदित्य वर्ण है। प्राकृतिक जितने वर्ण व प्रकाश हैं उन सब से भिन्न उसका वर्ण और प्रकाश है।

५. चक्र-शून्य Spotless—किसी चक्र केन्द्र, अवयव पर भी अपना ध्यान न जमाओ। किसी भी चक्र पर ध्यान जमाने से आप निरुद्ध वृत्ति, अन्तर्मुख और आत्मावस्थित नहीं हो पायेंगे, परिणामस्वरूप आप को (अ+उ) की स्थिति का साक्षात्कार नहीं होगा।

ध्यानावस्था में अपने शरीर की सत्ता को अनुभूति से सर्वथा मुक्त रखिये।

उपर्युक्त शून्यों की सिद्धि पर ध्यान के समय आपके आत्मा की सम्पूर्ण चेतना तथा ज्योत्स्ना स्वयमेव आत्मकोश में सिमट आयेगी।

शून्य के आश्रय से धी की सिद्धि के लिए कम से कम ३० मिनट और अधिक से अधिक एक घण्टा आसनस्थ होकर अभ्यास करें।

१. निश्चल आसन की सिद्धि होने पर ही समावस्था की सिद्धि होती है।

२. समावस्था की सिद्धिं होने पर ही शून्यों की सिद्धि होती है।

३. शून्यों की सिद्धि होने पर ही धारणा ध्यानादि मंजिलों को तय करके ओं में स्थिति-समाधि सिद्ध होती है।

४. ओं क्रतो स्मर। ओम् कृतं स्मर।

५. ओं खं ब्रह्म। ओं आकाशवद् व्यापक है। ब्रह्म सर्वज्ञ है। ओम् सर्वव्यापक है। इस भावना से सतत भावित रहते हुए पाप से बचना। यह परम भक्ति है।

ओङ्कारोपासना के तीनों वेद वाक्यों से अपने आत्मा को निरन्तर सम्बोधित करते रहना चाहिए।

ओम् प्रतिष्ठ, ओम् क्रतो स्मर, ओं खं ब्रह्म।

६. **आत्मशंसन Auto Suggestion**

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

अन्वय—त्र्यम्बकं यजामहे। सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् उर्वारुकम् इव मृत्योः बन्धनात् मुक्षीय मा अमृतात्।

भावार्थ—हम त्र्यम्बक की उपासना करते हैं। मैं सुगन्धि युक्त पुष्टिवर्धक के समान मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाऊं, अमृत से नहीं। त्र्यम्बक, त्रि-तीन अम्बक-लोचन, त्रिलोचन-त्रिनेत्र तीन आंखों वाला। तीनों लोकों तथा तीनों कालों का द्रष्टा होने से त्र्यम्बक परमात्मा है।

यज देवपूजा, संगतिकरण, दान। प्रभु से संगतिकरण कर, मृत्यु और अमृत दो शब्द परस्पर विरोधी हैं। अमृत " अ+मृत नहीं, मृत-मृत्यु, **अमृतं वै प्राणः, अमृतम् आयुः, यद्भेषजं तदमृतम्।** औषधि अमृत है, **आदित्योऽमृतम् अग्निरमृतम् वायुरमृतम्, यदमृतं तद् ब्रह्म एतमेव विदित्वाति मृत्युमेति।**

परमात्मा के लिए त्र्यम्बक शब्द सहेतुक तीनों गुणों से युक्त नेत्र।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। (य० ३६।८)

तत् चक्षु दिव्यताओं से निहित (शुक्रम्) शुद्ध और (उच्चरत्) उदित है। यह नेत्र दिव्य शुद्ध और सर्वोदित हैं। दिव्य द्रष्टा, पावन द्रष्टा और सर्वद्रष्टा होने से परमात्मा त्र्यम्बक है।

मृत्यु से मुक्त अमृत से युक्त होने के लिए त्र्यम्बक में संगत होकर प्रत्येक साधक को साधना करनी चाहिए। जिससे उसके जीवन से दुर्गन्धि, दुर्गुण, दुष्कर्म, दुर्विचारों का निराकरण हो और उसके जीवन में सुगन्धि सुविचारों का सम्पादन हों। □□□



वेदरत्न प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार

भू० पू० उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार



जीवन काल : ७.१.१९३६ से १.१०.१९९८

जन्म-स्थान : थाना मलाकण्ड एजेन्सी, जिला-मरदान, फ्रंटीयर (वर्तमान पाकिस्तान)

पिता का नाम : श्री गंगाविशनजी।

प्रचार-कार्य : उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल, जम्मू, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, नेपाल एवं अमेरिका आदि।

अध्यापन : दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय यमुनानगर, गुरुकुल झज्झर (हरियाणा), भू० पू० प्रोफेसर वेद विभाग, भू०पू० उपकुलपति, कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

लेखन प्रकाशन : ६० पुस्तकें, पत्रिकाओं में लेख आदि। २० आडियो, विडियो कैसेट।

सम्मान एवं पुरस्कार :

- आचार्य गोवर्धन शास्त्री स्मृति पुरस्कार १९८१ द्वारा-संगढ़ विद्या ट्रस्ट, जयपुर।
- आर्य साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट सेवाओं के उपलक्ष्य (१९८३) में द्वारा महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह समिति, अजमेर (राजस्थान)।
- वेदरत्न मानद उपाधि, १९८४ में द्वारा-विश्ववेद परिषद।
- शान्ति पुरस्कार से सम्मानित एवं पुरस्कृत १५.८.१९८३ द्वारा-आर्यसमाज शालीमार बाग, नई दिल्ली।
- आर्यसमाज की सराहनीय सेवा के लिए स्वामी शिवमुनि परिव्राजक की स्मृति में द्वारा-दयानन्द सुखरानी ट्रस्ट, उमरी, कानपुर।
- आर्यसमाज बी०एच०ई०एल०, हरिद्वार में १४.७.१९९६ को वेद की विशिष्ट सेवा के लिए।
- वैदिक साहित्य के प्रचार-प्रसार में विशिष्ट सेवाओं के लिए द्वारा-वैदिक यज्ञ समिति सोनीपत (हरियाणा)।
- निर्धन निकेतन, हरिद्वार में २७.९.१९९६ को सन्त सम्मेलन एवं विद्वत्सभा में वैदिक विद्वान् के रूप में अभिनन्दित, पुरस्कृत।

मरणोपरान्त सम्मान, द्वारा-

◆ वेद-वेदांग पुरस्कार-आर्यसमाज सान्ताक्रुज़, मुम्बई ◆ महर्षि दयानन्द सरस्वती ट्रस्ट, टंकारा ◆ वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर ◆ मानव कल्याण केन्द्र, तपोवन, देहरादून ◆ आर्यसमाज स्वरूप नगर, कानपुर, ◆ व्यास आश्रम, सप्त सरोवर, हरिद्वार ◆ उपदेशक विद्यालय, यमुनानगर, हरियाणा ◆ आर्यसमाज, बड़ा बाजार, पानीपत, हरियाणा।

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ०११-२५८८५५११, ९३१२३७८८२७२